राधास्वामी दयाल की दया राधास्वामी सहाय

राधास्वामी मत दिग्दर्शन

परम पुरुष पूरन धनी

बाबूजी महाराज

के

सन् १९१३–१४ में राधास्वामी मत पर दिए गये
प्रवचनों के अमेरिकन सतसंगी श्री मायरन
एच० फ़ेल्प्स बैरिस्टर द्वारा लिखित
नोटों का हिन्दी में अनुवाद

अनुवादक
संतदास माहेश्वरी, एम० एससी०
पर्सनल असिस्टेंट टू बाबूजी महाराज

राधास्वामी सतसंग, स्वामीबाग, आगरा

परम पुरुष पूरन धनी

महाराज साहब

के

धाम सिधारने

की

अर्द्ध शताब्दी

की

स्मृति में

राधास्वामी मत दिग्दर्शन

अथवा

फेल्ट्स नोट्स का अनुवाद

सूचीपत्र

अध्याय १

परम पिता का स्वरूप, सत्तदेश की रचना तथा उसका उद्देश्य

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१	कुल्ल-मालिक	१७
२	यह कहना गलत है कि मालिक न्यूनाधिक नहीं, बल्कि एक-रस सम-भाव में है	२२
३	समूह के साथ भास का होना लाज़िमी यानी अनिवार्य है	२५
४	वक्त मुनासिब पर न्यून चैतन्य या भास में रचना हुई	२६
५	रचना का उद्देश्य	३१
६	शब्द ही प्रथम इज़हार कुल्ल मालिक का है	३२
७	"राधास्वामी"—परम पिता द्वारा घोषित किया हुआ अपना नाम	३५
८	सुरतों की अलग २ व्यक्तियाँ बनना	३८
९	माया या माद्दे का पैदा होना	४१
१०	प्रथम मंडल की रचना	४२
११	"राधा" धार का निकलना। ऊँचे से ऊँचे निज नाम का भेद/उसका प्रभाव	४६
१२	सुरत और शब्द	४८
१३	अगम लोक की रचना	४९

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१४	नया केन्द्र या भंडार बनाने की जरूरत	५०
१५	अलख लोक की रचना	५२
१६	अनामी, सत्तलोक और भँवरगुफा की रचना	५३
१७	सत्तदेश की रचना अविनाशी और अपरिवर्तनशील है	५४
१८	सत्तदेश के वासियों का जीवन	५८
१९	अनंतता का बोध	८२
२०	ऊँचे देश की बासी सुरतों को नीचे की रचना के विकास क्रम में कभी नहीं गुजरना पड़ा	८६
२१	नीचे के लोकों के बंधन सत्तदेश में नहीं ले जाए जा सकते हैं	८७
२२	पुनर्जन्म में विश्वास न करने वाले मनुष्यों की मृत्यु के बाद की दशा	८८

अध्याय २

नीचे अर्थात् ब्रह्मांड और पिण्ड की रचना और उसका उद्देश्य

२३	चैतन्य में ह्रास या न्यूनीकरण, नीचे की रचना का कारण	९०
२४	नीचे की रचना का क्षेत्र-निरपेक्ष क्षेत्र का निचला भाग तथा निम्न ध्रुव	९१
२५	नीचे की रचना का उद्देश्य	९२
२६	काल और माया	९५
२७	वहिरमुख शक्ति का प्रकट होना	९९
२८	माया	१००

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
२९	माद्दा या द्रव्य	१००
३०	रंगों की उत्पत्ति	१०१
३१	अंधेरी किरनियों की उत्पत्ति	१०१
३२	काल को दूसरी किस्म की सुरतों की आवश्यकता	१०२
३३	काल द्वारा अलग नई रचना रचने के कारण....	१०५
३४	काम क्रोध आदि की उत्पत्ति	१०६
३५	काल के शासन का स्वरूप	१०७
३६	काल और माया और नीचे के लोकों के धनियों का मर्तबा और पद	१०९
३७	काल और दयाल के औतारों में फर्क	११०
३८	महासुन्न की रचना	१११
३९	सुन्न, त्रिकुटी और सहसदल कँवल की रचना....	११३
४०	पिण्ड देश की रचना	११४
४१	इस नई रचना में नई सुरतें नहीं उत्पन्न हुई....	११४
४२	सब रूपों की रचना एक साथ हुई	११७
४३	वैज्ञानिक सिद्धांत सभी तथ्यों की व्याख्या नहीं करते	११७

अध्याय ३

जीवों का सत्तदेश में लौट कर जाना

४४	सुरत चैतन्य का उतार	१२१
४५	आदि कर्म	१२२
४६	सत्तदेश में लौट कर जाने की गुप्त शक्ति सुरत में मौजूद है	१२३
४७	मनुष्य चोला सबसे पूर्ण और मध्य का चोला है	१२५

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
४८	आध्यात्मिक उन्नति केवल नर चोले में ही संभव है	१२६
४९	सुरतों के सुधार या उद्धार का मार्ग	१२७
५०	पहले के युगों में राधास्वामी मत जारी न करने का कारण	१२८
५१	जीवों को वापस सत्तदेश में बुलाने के लिए मालिक ने क्या बंदोबस्त किया है	१२९
५२	जीवों के उद्धार का जो इंतज़ाम मालिक ने किया है, उसमें संत सतगुरु का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है	१३५
५३	इस तथा अन्य पृथ्वियों पर संतों के आगमन के तरीके	१३७
५४	उद्धार की कार्रवाई गुरुमुख द्वारा की जाती है	१३९
५५	चार जन्म में उद्धार	१४०
५६	प्रथम संत सतगुरु कबीर साहब	१४१
५७	इस एतराज का जवाब कि जब मालिक सब जगह मौजूद है तो गुरु की क्या जरूरत है	१४२

अध्याय ४

आध्यात्मिक उन्नति

५८	अधिकारी जीवों के लक्षण	१४४
५९	नीचे की योनियों में उतार	१४७
६०	कर्मों का भुगतान शुद्धि या सफ़ाई के लिए है, न कि सज़ा	१४९
६१	मौजूदा जिन्दगी में पहले जन्मों की बातों के याद न रहने का कारण	१५०
६२	हिन्दुस्तान और पश्चिमी देश	१५३

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ट संख्या
६३	भारतवर्ष ही पृथ्वी पर वह भूमि है जहाँ अध्यात्म का पोषण होता है	१५८
६४	चैतन्यता बढ़ाने के विभिन्न ज़रिये	१६३
६५	संत सतगुरु की सेवा	१६५
६६	सुरत को ऊपर चढ़ाना	१६६
६७	प्रसाद और भंडारा	१६७
६८	सरन	१७०
६९	दीनता का स्वरूप	१७१
७०	भक्त का जीवन	१७५
७१	परमार्थी तरक्की के निशान	१८०
७२	कष्ट और मुसीबतें	१८१
७३	भक्त अभ्यासी के लिए किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना परम उपयुक्त है	१८२
७४	केवल नैतिक सदाचार से उद्धार नहीं होगा....	१८५
७५	तपस्या और काया को कष्ट देना बेकार है....	१८६
७६	संन्यास तथा बैराग ठीक नहीं	१८७
७७	राधास्वामी मत के नैतिक सिद्धान्त	१९०
७८	सामाजिक सुधार और परोपकार के काम भक्तों के लिए उपयुक्त नहीं	१९१
७९	अभ्यासी के लिए राजनैतिक कार्यों में भाग लेना उचित नहीं	१९६
८०	उद्धार के लिए चार जन्मों की ज़रूरत	१९८
८१	करामात या चमत्कारों पर आधारित विश्वास हमेशा क़ायम नहीं रहता	२०१

अध्याय ५

राधास्वामी मत की अन्य धर्मों से श्रेष्ठता

८२	प्रत्येक धर्म का निश्चित लक्ष्य होना चाहिये और उसको शरीर में जीव की बैठक के	

प्रकरण संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
	स्थान का ज्ञान होना चाहिए	२०२
८३	राधास्वामी मत में रचना का जो भेद दिया गया है, वह पूरी तफसील के साथ और पूरा है	२०४
८४	राधास्वामी मत जीव के माया देश की यात्रा के कारणों को स्पष्ट रूप में समझाता है	२०७
८५	राधास्वामी मत के उपदेश भारतवासियों के लिए बहुत आश्वासन पूर्ण हैं	२०८
८६	किसी अन्य मज़हब या धर्म से सत्य और पूर्ण उद्धार नहीं हो सकता	२०९
८७	अन्य धर्मों के लक्ष्य	२१०
८८	पुराने जमाने के योग अब निष्फल हैं	२११
८९	यदि राधास्वामी मत के सिद्धान्तों का उचित अध्ययन किया जावे तो उसके ऊपर यह दोषारोपण करना कि वह अपने को सबसे न्यारा और अलग समझता है, ग़लत साबित होगा	२१२
९०	जीवन की नित्यता तथा आवागमन के सिद्धान्त स्वयं सिद्ध हैं	२१४

अध्याय ६

विविध विषयों पर बाबूजी महाराज और फ़ेल्प्स साहब में बातचीत

१	राधास्वामी मत अन्य मतों से न्यारा है	२१९
२	सुरत और मन और देह की सफाई	२२३

प्रवचन संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
३	गुनाहों को खोल कर बयान करना। सुरत और मन का संबंध। मन की मुखालिफ़त से क्या मतलब है? अच्छे और बुरे कामों की व्याख्या	२२७
४	तुंद्रा और निद्रा। सुरत की चढ़ाई	२३२
५	सुरत अमर और बाहोश है। पिछले जन्मों की याद	२३६
६	सुरत की काल और माया से भिन्नता	२३९
७	पिछले जन्मों की याद पर पर्दा डाल दिया जाना। आदि कर्म और उसका नाश होना	२४४
८	आध्यात्मिक उन्नति और दीनता	२४७
९	आध्यात्मिक उन्नति के लिए संत सतगुरु की आवश्यकता	२४९
१०	पश्चिमी तालीम से हानियाँ	२५०
११	पश्चिमी तालीम की उपयोगिता	२५२
१२	वृत्तियों और क्रियाओं का रुख़ मोड़ना। निष्काम भाव से ख़ैरात करना अच्छा है। सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में जिन्दगी लगा देना अच्छा नहीं है।	२५४
	पाठ सहायक	
	पुस्तक सूची	

राधास्वामी मत दिग्दर्शन

अध्याय १

परम पिता का स्वरूप, सत्तदेश की रचना तथा उसका उद्देश्य

प्रकरण १

कुल्ल मालिक

अनुच्छेद १—परम पिता, कुल्ल-मालिक, एक-रस निर्मल चैतन्य का अपार सागर है। अत्यन्त प्रेम और आनन्द की अवस्था में, अपने में आप रत और मगन, वह सम्पूर्ण और परिपूर्ण है। रचना से पूर्व केवल वही बा-होश था। उसके सिवा न कोई दृष्टा था और न दृश्य। अपने अत्यन्त आनन्द की अवस्था में रत, केवल कुल्ल-मालिक मौजूद था।

२—उसका प्रमुख लक्षण प्रेम था। मगर वह प्रेम किसी अन्य व्यक्ति के लिए नहीं था क्योंकि दूसरा कोई

था ही नहीं। उसका रुख अन्दर की तरफ़, अपनी तरफ़ था। प्रेम उसका जौहर था जो सतत क्रियाशील तथा अपने प्रदर्शन या इज़हार के लिए किसी वस्तु की अपेक्षा रखने वाला न था। वह केवल प्रेम और आनन्द का अनन्त भण्डार था। वह प्रेम का अपार भण्डार जो अकेला मौजूद था और जिससे प्रेम करने वाला दूसरा कोई नहीं था, पूर्ण आनन्द का सिंध था।

३—उस अवस्था का थोड़ा सा अनुमान इस तरह हो सकता है कि अपने को किसी प्रिय वस्तु के ध्यान में इतना लीन कर दे कि अपनी सुधि बिल्कुल न रहे। वह अपने को तथा अपने शरीर को भूल जाता है। प्रिय वस्तु के सिवा किसी का ज्ञान ही नहीं रह जाता। उस रूप के ध्यान में, आनन्दातिरेक की दशा में, वह अपने को भूल जाता है। फिर मान लो कि उस आनन्द की आत्यंतिक दशा में वह रूप भी ग़ायब हो जाय और आनन्द के सिवा किसी वस्तु का ज्ञान न रह जाय।

४—कोई वस्तु प्रेम से ख़ाली नहीं है। ज्ञाता को केवल उसी का ज्ञान हो सकता है जिसका कि जौहर और सार तत्त्व वही हो, जो ज्ञाता का है। यह बात जितनी क्षुद्र जीवों के सम्बन्ध में सत्य है, उतनी ही कुल्ल-मालिक के संबंध में भी। इसलिए बिना प्रेम के अगर किसी वस्तु का वजूद या अस्तित्व था तो उसका मालिक को ज्ञान नहीं हो सकता था।

५—जैसा कि हम जानते हैं, प्रेम अपने सर्वोत्कृष्ट अर्थ में सर्वश्रेष्ठ आनन्द का स्रोत है। इसलिए प्रेम की

पूर्ण अवस्था में उच्चातिउच्च कोटि का आनन्द विद्यमान या मौजूद है और यही प्रेम की पूर्ण अवस्था परम पिता का स्वरूप है। वह अवस्था अत्यधिक समूह की थी। वास्तव में प्रेम के मानी या अर्थ ही समूह यानी केन्द्र पर एकत्रित होना..............किसी एक विशिष्ट दिशा में आकर्षण या कशिश का होना है। और जब परम पुरुष यानी कुल्ल-मालिक की सिफ़त का बयान किया जा रहा हो तो समझना चाहिए कि यह कशिश और आकर्षण स्वयं परम पुरुष ही की ओर था। इसका यह मतलब है कि स्वतः परम पुरुष के भीतर एक ऐसा विशाल प्रांत था कि जिसमें शुद्ध चैतन्य (उसका स्व-अंग) अत्यंत समूह या अत्यंत खिचाव की अवस्था में था और दूसरा एक ऐसा भाग या प्रांत था जिसमें से चैतन्यता, समूह बनाने वाली शक्ति की क्रिया द्वारा, किसी क़दर खींच ली गई थी और इसलिए उसमें जो चैतन्यता शेष रह गई थी, वह कम दरजे के खिचाव की हालत में अथवा भास रूप में थी। अगर किसी शक्ति को फैलने से न रोका जावे तो उसका बिखेर और विनाश हो जावेगा। बिना समूह बनाए या एकत्रित हुए कोई शक्ति नहीं ठहर सकती। सारी रचना में सब जगत् चैतन्य शक्ति का स्वभाव से ही सिमटे हुए और खिचे हुए रहना, इस बात की निरन्तर सम्हाल कर रहा है कि अभाव और विनाश न होने पावे।

६—यह हमारे अनुभव की बात है कि पहले इसके कि कोई क्रिया या कार्रवाई हो, केन्द्र या मरकज़ का बनना ज़रूरी है ताकि उससे शक्ति की धार निकले

अथवा उसी के अनुरूप कोई ऐसा सिलसिला क़ायम हो कि जिसके ज़रिये शक्ति भेजी या पहुँचाई जा सके। नीचे लिखे हुए उदाहरणों से इस नियम का विश्व-व्यापी होना या सर्वत्र लागू होना स्पष्ट हो जावेगा। आँधी के केन्द्र से बवंडरों का उठना। समुद्र के उस हिस्से से जहाँ हल चल पैदा हुई हो, समुद्री लहरों का उठना। बैटरी या डायनैमो से बिजली की धार का निकलना। चुम्बक से चुम्बकीय शक्ति धारों का निकलना। उन स्थानों से जहाँ कि गैस या भाफ को दबा कर इकट्ठा कर रक्खा गया हो, गैस या भाफ का जोर से निकलना। गरमी के भण्डार से गरमी का चारों ओर फैलना। आवाज के केन्द्रों से आवाज़ का निकलना। इंजिन का, दंड उत्तोलक आदि के द्वारा काम करने वाले सब औज़ारों या पुरजों को अपनी शक्ति भेजना। जीवित पशुओं और पेड़ पौधों में जीवनी शक्ति की धारों का उनके केन्द्रों से हाथ पाँवों की ओर तथा दूर दूर के सिरों तक प्रवाहित होना।

७—जीवित रहने और जीवन के कार्य संचालन के लिए समूहीकरण अर्थात् भण्डार या केन्द्र बनाने की आवश्यकता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि वह (परम पुरुष) जिस पर सबका जीवन निर्भर है, समूह या भण्डार रूप होना चाहिए। इस घाट पर समूह या भण्डार की जो कुछ कल्पना हम कर सकते हैं, वह एक क्षुद्र या सीमित क्षेत्र से है। किन्तु निज भंडार या केन्द्र के विषय में ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है। लैम्प या दीपक जैसे रोशनी के केन्द्र के मुक़ाबले में महान प्रकाश

के केन्द्र सूर्य को अपार ही कहा जाता है। लेकिन इस सूर्य से ऊपर, और बहुत बड़े २ केन्द्र अर्थात् सूर्य हैं। सबके ऊपर सबसे बड़ा केन्द्र (भंडार) परम पुरुष रूपी सूर्य है जो वास्तव में अपार और अनंत है।

८--चूँकि वह (परम पुरुष) सबसे अधिक समूहीकरण की अवस्था में था, इसलिए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि :--

(अ) वह पूर्ण आनन्द स्वरूप था क्योंकि यह हम जानते हैं कि सिमटने और समूह बनाने में ही आनंद प्राप्त होता है।

(ब) उसको पूर्ण ज्ञान था क्योंकि हमें मालूम है कि सिमटाव और एकाग्रता से ज्ञान उत्पन्न होता है।

(स) वह सर्व शक्तिमान था क्योंकि हम जानते हैं कि शक्ति भी एकाग्रता या सिमटाव का परिणाम है।

९-- कुल्ल-मालिक यानी परम पुरुष को निर्मल से निर्मल और तीव्र से तीव्र आनंद की संपूर्ण अवस्थाएँ प्राप्त थीं; यद्यपि वहाँ न तो इन्द्रियाँ थीं और न इन्द्रियों के विषय थे। यह बात कल्पना या ख़याल में आने लायक़ नहीं मालूम होती, लेकिन इसका कुछ अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है कि जिस साधन या ज़रिये से हमको इस घाट पर ज्ञान और होश प्राप्त है, अगर उस साधन या ज़रिये को निकाल दिया जाय तो भी पूरा होश क़ायम रहे।

प्रकरण २

यह कहना ग़लत है कि मालिक न्यूनाधिक नहीं, बल्कि एक-रस सम-भाव में है

१०--यह कहना कि परम पुरुष असीम और अपार तो है किंतु उसमें दरजों का फ़र्क़ यानी क्रमानुक्रम नहीं है—क्योंकि उसमें क्रम या दरजों का होना उसकी अनंतता की धारणा में बाधक होता है—नीचे लिखी हुई दलील से अप्रामाणिक और ग़लत साबित किया जा सकता है। ऐसा पुरुष न तो कोई कार्य कर सकेगा और न कोई असर पहुँचा सकेगा। हर एक शक्ति या ताक़त जिससे हम इस संसार में वाक़िफ़ हैं, इस प्रकार क्रिया करती है कि पहले वह एक केन्द्र बनाती है और तब विलोम अनुपात के नियम से अपना असर पहुँचाती है यानी जो स्थान केन्द्र से ज़्यादा दूर है वहाँ कम असर पहुँचता है और जो स्थान केन्द्र के समीप है वहाँ ज़्यादा असर पहुँचता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए अगर यह मान लिया जाय कि मालिक में दर्जात का फ़र्क़ नहीं है तो इसका यह अर्थ होगा कि शक्ति बिना केन्द्र बनाए सब जगह यकसाँ काम कर रही है। लेकिन हमारा अनुभव यह बतलाता है कि कोई भी शक्ति अपने आप क्रिया नहीं कर सकती और अगर कोई क्रिया होती है

तो इसका यह अर्थ है कि उस पहले वाली ताक़त को हरकत या गति देने के लिए एक दूसरी ताक़त भी होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, समुद्र की एक-वर्ण एक-रस सतह निष्क्रिय रहती है, जब तक कि उस पर हवाओं का असर न पहुँचे अर्थात् समुद्र की अपार जल राशि में हल-चल या गति उत्पन्न करने के लिये वायु शक्ति की आवश्यकता है। इसलिए अगर शक्ति सब जगह समान रूप से फैली हुई हो तो उसके चेष्टा में आने के लिए किसी वाह्य यानी बाहरी ताक़त की ज़रूरत होगी अर्थात् उसका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है। इसी बात को और अच्छी तरह समझाने के लिए दूसरा तर्क यह है कि अगर कुल्ल-मालिक यानी परम पुरुष में दरजात अथवा समूह और भास का अस्तित्व न होता यानी वह समान रूप से सर्व व्यापक होता तो उससे कोई अन्य व्यक्ति या पुरुष या चीज़ वजूद में नहीं आ सकती थी। क्योंकि अगर मान लिया जावे कि ऐसा हो सकता था तो यह प्रश्न उठता है कि एक भाग में कोई व्यक्ति या वस्तु वजूद में आई तो दूसरे भाग में क्यों नहीं आई और सभी भागों में क्यों नहीं ? यह भी स्पष्ट है कि जैसा परम पुरुष है, वैसा परम पुरुष तो एक ही हो सकता है क्योंकि अगर सर्व प्रकार से उसके समान दूसरा पुरुष भी होता तो वे दोनों एक दूसरे में समा कर तद्रूप हो जाते। सत्य यह है कि उसके समान दूसरा कभी कोई था ही नहीं। दूसरे का वर्णन केवल विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये किया गया है।

११—जैसा कि आगे चल कर समझाया जावेगा, सत्तदेश के बासी जो प्रथम रचना के साथ पृथक व्यक्तियों के रूप में उत्पन्न हुए, परम पिता की अपेक्षा कम चेतन हैं। यही कारण है कि उसमें समा कर उससे एक रूप न हो सके। यह नियम है कि भिन्न २ दरजे की चैतन्यता रखने वाली सुरतों की व्यक्तियाँ हमेशा से प्रथक हैं। अगर वे समा सकतीं तो ऊँचे दरजे की चैतन्यता का उतार लाज़िम हो जाता, पर यह मंज़ूर नहीं है। इसलिये रचना से पूर्व परम पुरुष उन मुन सुन अवस्था में एक-रस मौजूद था अर्थात् अलग २ व्यक्तियाँ उसमें नहीं थीं।

१२—मालिक अरूप है या रूपवान है, इस विवाद ग्रस्त प्रश्न की निस्बत यह विचारणीय है कि यदि वह अरूप, अपार और समान रूप से सब जगह मौजूद हो तो फिर रचना में जो अगणित ऊँच नीच दरजे और क्रम दिखलाई देते हैं, उनका क्या कारण है? राधास्वामी मत के अनुसार कुल्ल-मालिक या परम पुरुष अरूप और रूपवान दोनों है। सत्तदेश में उसका रूप है और अनंत विस्तार भी है। उस अरूप ने प्रथम रूप धारण किया, तब रचना हुई। इसका बयान अब किया जायगा।

प्रकरण ३

समूह के साथ भास का होना लाज़िमी यानी अनिवार्य है

१३—जैसा कि कहा जा चुका है परम पुरुष चैतन्य की अत्यन्त समूह अवस्था में था। इसका लाज़मी नतीजा यह निकलता है कि दूसरी ओर उसका भास भी छूटा हुआ होना चाहिए जिसमें चैतन्य की कमोबेश न्यून अवस्था थी। भास में चैतन्यता की कमी इस तरह हुई कि उस हिस्से से चैतन्यता परम पुरुष की ओर खिंच गई। यह आगे चल कर बतलाया जावेगा कि चैतन्य की कमी से अथवा चैतन्य की न्यून अवस्था से जिसे भास कहते हैं, अलग २ व्यक्तियों या सुरतों का निर्माण हुआ, ऊँचे और नीचे वर्ग या दरजे की रचना वजूद में आई और मन व माया की उत्पत्ति हुई जो चैतन्य की कमी और उतार के हिसाब से पृथक व्यक्तियाँ हैं।

१४—यह बात याद रखनी चाहिए कि भास या न्यून अवस्था के सब प्रदेशों या भागों में कुछ न कुछ चैतन्य अवश्य मौजूद था। यह चैतन्य, चाहे कितना ही कमज़ोर या कम दरजे का क्यों न हो, अंतर के अन्तर-गत परम स्रोत के साथ जुड़ा हुआ था। इसी सूत या सिलसिले के कारण ही कुल्ल-मालिक या परम पुरुष को सब की खबर थी। एक को दूसरे का ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का

जौहर किसी न किसी रूप में और किसी न किसी दरजे में एक हो। अन्यथा किसी वस्तु का ज्ञान होना असम्भव है। जिस चीज़ का ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसका अस्तित्व या वजूद हो नहीं सकता। इसलिये जो कुछ ज्ञात है, वह मालिक को भी अवश्य ज्ञात होना चाहिए। परन्तु मालिक विशुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये जहाँ कहीं भी कोई रचना या सत्ता है, वहाँ चैतन्यता अवश्य होगी, भले ही वह बहुत ही कम दरजे की हो। कहने का अभिप्राय यह कि रचना भर में जो कुछ मौजूद है, उस सब का ज्ञान मालिक को प्राप्त है और जिसका ज्ञान मालिक को है, उसका अस्तित्व बिना चैतन्यता के नहीं हो सकता।

प्रकरण ४

वक़्त मुनासिब पर न्यून चैतन्य या भास में रचना हुई

१५—समूह या सघन अवस्था वाले ध्रुव या सिरे के चैतन्य द्वारा दूसरे ध्रुव या सिरे के न्यून चैतन्य को अपनी ओर आकर्षित करने या खींचने का कार्य सदैव से चल रहा था। आकर्षण की यह रीति असंख्य युगों तक जारी रही। इस भास रूपी न्यून चैतन्य पर आकर्षण शक्ति का असर इस प्रकार पड़ रहा था कि परम स्रोत या निज भंडार से यह जिस क़दर ज़्यादा दूर था, उतना ही कम खिंचा और

तीव्रता के हिसाब से जिस दरजे या परिणाम की तीव्रता का चैतन्य था, वह उतना ही ज़्यादा खिचा। नीचे वाले ध्रुव या क़ुतुब के चैतन्य का एक भाग इस आकर्षण की निरंतर क्रिया से प्रभावित होकर समूह की तरफ़ उसी प्रकार बढ़ा जिस प्रकार तेल, जलती बत्ती की ओर खिंचता है।

१६—न्यून चैतन्य वाले ध्रुव के अन्य भाग इतने कमज़ोर या कम शक्ति वाले अथवा इतने दूर थे कि वे न खिंच सके। जो कुछ उस आकर्षण से प्रभावित होकर खिंचने लायक था अथवा खिंच सकता था, वह ऊपर की ओर खिंचा। लेकिन जो कुछ खिंचा, उसके निम्न कोटि का होने के कारण उसमें उस दरजे की तीव्रता नहीं थी जो समूह या भंडार के चैतन्य में थी और इसलिए वह उसमें तद्रूप न हो सका। वह मानो उसमें लटकता या झूलता सा रहा। पानी की भाप जब वायुमंडल में ऊपर खिंच जाती है, तब वह न तो वायु बन जाती है और न वायु ही किसी प्रकार से बदल जाती है, प्रत्युत दोनों अलेहदा अलेहदा रहती हैं। कारण इसका यही है कि एक वस्तु दूसरी से भिन्न है। इसी प्रकार ऊँचे दरजे का चैतन्य और नीचे दरजे का चैतन्य अथवा ऊपर और नीचे के चैतन्य अलग अलग रहे, उच्च कोटि के चैतन्य के संसर्ग से निम्न कोटि के चैतन्य में मुख्यतः कोई फ़र्क़ नहीं आया। उन दोनों में सदैव से भिन्नता थी जो किसी प्रकार दूर नहीं हो सकती थी। और यह ठीक भी था क्योंकि अगर वह समा जाता या तद्रूप हो जाता तो अनामी पुरुष में फ़र्क़ आ जाता,

परिवर्तन हो जाता। पर यह नहीं हो सकता क्योंकि अनामी पुरुष तो अपरिवर्तनशील है। न वह घटा और न वह बढ़ा। जैसा था, वैसा ही है और रहेगा। अगर कम दरजे वाला चैतन्य परम स्रोत के साथ तद्रूप हो सकने लायक़ होता तो वह पहले से ही तद्रूप होता। यद्यपि लटकती हुई हालत में या मोअत्तल सी पड़ी हुई यह चैतन्यता अपने मुख्य गुणों से युक्त ही रही, पर फिर भी अनंत काल तक अनामी पुरुष यानी चैतन्य के परम स्रोत के संपर्क में रहने से ही उसमें कुछ परिवर्तन हो गया। उसकी चेतना शक्ति बढ़ गई। उसके आवरणों में किसी अंश तक शुद्ध चैतन्य की सी तीव्रता आ गई। उसमें यह क्षमता या योग्यता आई कि आगे चल कर रचना या सृष्टि का विकास कर सके। अनामी पुरुष के संग से यदि उसमें यह क्षमता या योग्यता न आती और यह उल्लिखित तैयारी न हो पाती तो रचना हो ही नहीं सकती थी।

१७—यह शेष चैतन्य अनामी पुरुष से स्वरूपतः भिन्न होने के कारण उससे तद्रूप नहीं हो सकता था। किंतु यह सदैव लटकती हुई, मोअत्तल सी, दशा में भी नहीं रह सकता था। इसलिए उचित समय आने पर इसे उसी प्रकार नीचे उतरना पड़ा जिस तरह कि वायुमंडल में झूलती हुई भाफ, तरी की पूर्ण अवस्था पहुँचने पर नीचे को गिरती है। भाफ के गिरने के ये कारण हैं :—(१) वायुमंडल की अपेक्षा यह अधिक घनी या स्थूल है। (२) जिस क़दर इसकी मात्रा ऊपर खिंचती जाती है, उसी क़दर यह बोझिल होती जाती है। (३) गुरुत्वाकर्षण शक्ति इसको

सदा नीचे की ओर खींचती रहती है। जब समय 'पूर्णता' को पहुँचा यानी जब वक्त मुनासिब आया, उसका नीचे उतार हुआ।

१८—ऊपर वर्णन की हुई पूर्ण अवस्था का यह अर्थ है कि सूक्ष्म द्रव्य में कोई स्थूल द्रव्य ऊपर खिंच आया है और उसमें लटकती हुई या झूलती हुई हालत में पड़ा है। जब स्थूल द्रव्य की बढ़ते बढ़ते ऐसी हालत हो जाती है कि वह झूलती हुई अवस्था में और अधिक समय तक नहीं रह सकता, तभी वह अवस्था या समय आता है जिसे 'वक्त मुनासिब' या 'समय का पूर्णता को पहुँचना' कहते हैं। इसी प्रकार गर्भ में बीज या बच्चा भी उस वक्त तक बढ़ता रहता है, जब तक कि वह पूर्णता की अवस्था को नहीं पहुँचता। ज्यों ही पूर्णता की अवस्था पहुँची कि उसे विवश बाहर निकलना पड़ता है। वह और अधिक समय गर्भ में नहीं रह सकता। 'वक्त मुनासिब' या 'समय का पूर्णता को पहुँचने' के ये वे उदाहरण हैं जिनसे कि हम भली भाँति परिचित हैं। अन्य बहुत से दृष्टान्त भी दिए जा सकते हैं।

१९—नीचे से जो चैतन्य ऊपर खिंच गया था, वह परम पुरुष की आग़ोश यानी गोद में नहीं रहने पाया। इसका कारण यह नहीं था कि परम पुरुष उसको अपने पास नहीं रख सकता था अथवा उसकी खींचने वाली ताक़त कमज़ोर या थकित हो गई थी। बल्कि कम दरजे या कम तीव्रता वाला चैतन्य जो ऊपर खिंच आया था, वह (१) परम पुरुष के परम पूर्ण चैतन्य से इस क़दर भिन्न

था, (२) इतनी मात्रा में इकट्ठा हो गया था, (३) उस पर निम्न ध्रुव पर बचे हुए चैतन्य का नीचे की ओर खींचने वाला दबाव या तनाव सदैव से इस क़दर रहता आया था और (४) परम पुरुष के दीर्घकालीन संग से उसमें नीचे रचना करने की क्षमता या योग्यता इस क़दर आ गई थी कि वह स्वयं वहाँ उसी तरह से न रह सकता था, जिस तरह कि (अ) आकाश में तैरती हुई जल वाष्प वर्षा के रूप में नीचे उतरती या गिरती है, इसलिए नहीं कि उसे रोके रखने की ताक़त हवा में कम हो गई है, बल्कि इसलिए कि अपने चारों ओर के वातावरण के मुकाबले में वह इतनी भारी या बोझल हो गई है कि वह आकाश में नहीं ठहर सकती और ऐसी अवस्था में पहुँच गई है कि उसको नीचे गिरना ही पड़ता है; अपरंच उसी तरह जिस तरह कि (ब) गर्भाशय से बच्चा बाहर निकलता है, इसलिए नहीं कि माता का पेट उसे अब और अधिक समय तक धारण नहीं कर सकता, बल्कि इसलिए कि वह पूर्णतया बढ़ कर तैयार हो गया है, वह स्वयं अब और ज्यादा देर तक माता के गर्भ में नहीं रह सकता।

२०—आगे चलकर समझाया जावेगा कि जिस प्रकार माता के गर्भ से बालक का जन्म होता है, उसी प्रकार प्रथम अधिष्ठातृ पुरुष या धनी जो प्रकट हुए, वे 'अगम पुरुष' हैं। गर्भ में जब बच्चा बढ़कर पूर्णता को पहुँच जाता है, तब वक़्त मुनासिब पर वह बाहर फेंका जाता है, उसी तरह वह चैतन्य जो परम पुरुष में समाकर तद्रूप न हो सका, नीचे फेंका गया। एक अन्य कारण भी था। परम

पुरुष के चरणों में वह दूसरा (शेष) चैतन्य पड़ा हुआ था जोकि और भी कम दरजे का था और जो परम पुरुष के आकर्षण में आकर्षित नहीं हो सकता था। उसको भी आनंदमय अवस्था प्राप्त कराने के उद्देश्य से मालिक की मौज रचना का कार्य आरंभ करने की हुई।

प्रकरण ५

रचना का उद्देश्य

२१—परम पुरुष के चरनों में जो चैतन्य न्यूनता की वजह से बे-होश पड़ा हुआ था उसको भी, जहाँ तक हो सके, पूरे होश और आनंदमय अवस्था में लाने के उद्देश्य या मक़सद से रचना की गई। यदि रचना न की जाती तो वह न्यून चैतन्य सदा बे-होशी की हालत में पड़ा रहता और उच्च केन्द्र के आनंद में शरीक नहीं हो सकता था। वह पुरुष जिसका स्वभाव या लक्षण ही प्रेम है, सिवा इसके और कुछ नहीं चाहता कि सब आनंदमय जीवन की अवस्था में लाए जायँ। जहाँ प्रेम, चैतन्यता और ज्ञान में कमी आती है, वहीं दुख शुरू होता है जो काल का अङ्ग है।

२२—यह मुमकिन नहीं है कि कम दरजे के चैतन्य वाले जीव को बाहोश करने के लिए एक बारगी ऊँचे दरजे का चैतन्य प्रदान कर दिया जावे। प्रत्युत ऐसा करने से उसे केवल तकलीफ़ ही होगी। यदि गाय को मनुष्य चोले की चैतन्यता दे दी जावे तो उसे घोर दुख व्यापेगा। उचित

रीति यही है कि कम चैतन्य वाली सुरतों को ऐसे घाट पर भेजा जावे जहाँ होश में रह कर वे पूर्ण रूप से कार्रवाई कर सकें। इसलिये चैतन्यता की कमी की पूर्ति और होश में लाने के लिये नीचे घाटों या प्रदेशों की रचना करना जरूरी था। और जिस रीति से यह कार्य किया गया, वह स्पष्ट बतलाता है कि उसमें उद्देश्य या मतलब यह था कि सुख ज्यादा से ज्यादा मिले और दुख कम से कम। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में आनंद अधिक होता है। सुख का काल लम्बा होता है, जैसे—सत्य युग तथा अन्य पहले युगों में। और दुख का काल छोटा होता है। इससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि रचयिता का इरादा जीव को उस घाट पर सुख देना है जिस पर कि वह उसका उपभोग कर सके। वह उसको वहाँ यथा संभव अधिक से अधिक सुख देना चाहता है, इस बात को मद्दे नज़र रखते हुए कि अंत में उसको अमर और पूर्ण आनंद प्राप्त कराया जावे। यह स्पष्ट है कि जब तक सुख की अवस्था मौजूद है, जीव उसी में संतुष्ट रहेगा और उसका छुटकारा नहीं कराया जा सकता क्योंकि वह स्वयं छुटकारे के लिये कोई चेष्टा नहीं करेगा, और उसकी ख़ुद की कोशिश निहायत लाज़मी है।

प्रकरण ६

शब्द ही प्रथम इज़हार कुल्ल-मालिक का है

२३—रचना के लिये यह ज़रूरी था कि एक केन्द्र या भंडार बने और उसमें से धार निकले। इसके लिये

साधन समीप ही मौजूद था। यह साधन वह न्यून चैतन्य था जो परम पुरुष की सर्वोच्च आदि शक्ति से प्रभावित हो चुका था और इस योग्य बन गया था कि आगे बढ़े और रचना का कार्य करे।

२४—इसलिये जब वक्त मुनासिब आया तब उस जगह पर जहाँ परम पुरुष और न्यून चैतन्य की संधि थी, एक भारी हिलोर उठी और शोरे ज़हूर हुआ। शब्द ने एक भंडार बनाया जिसका रूप अंडाकार था। इस तरह कुल्ल-मालिक अनामी पुरुष अरूप से रूपवान अवस्था में आए और उनकी काया बनी। चूँकि रूप अरूप में समाया हुआ था, इसलिये उसकी असीमता से जुदा या अलग नहीं हुआ। अनामी पुरुष में कोई रद्दोबदल या परिवर्तन नहीं हुआ। यही समय यानी वक़्त की शुरूआत थी। इससे पहले कोई घटना ही नहीं हुई जिससे समय शुरू होने की गिनती की जाती।

२५—उस अंडाकार भंडार से एक भारी चैतन्य शब्द निकला। यह वही शब्द था जो उस भंडार के बनने से पहले उत्पन्न हुआ था और जिसने उस भंडार को रूप प्रदान किया था। अनामी पुरुष की प्रथम अभि-व्यक्ति 'शब्द' में हुई, तत्पश्चात् 'रूप' में। शब्द, रूप से सूक्ष्म है।

२६—परम पुरुष संपूर्णतया अशब्द और अनाम था। उसमें कोई शब्द या आवाज़ न थी। मगर जब उसने अपने को उन सुरतों पर प्रकट करना चाहा जो कि उसके

चरणों में पड़ी हुई थीं, तब उसने शब्द उत्पन्न किया। शक्ति का प्रवाह या प्रकटीकरण, बिना शब्द के, कभी नहीं हो सकता। शब्द, चैतन्य का रूप है। निर्मल चैतन्य देशों का शब्द, यहाँ के शब्दों की तरह बे-जान नहीं है, वहाँ वह स्वयं ज्ञानमय है।

२७—जिस प्रकार चैतन्य का प्रथम ज़हूरा शब्द है, उसी प्रकार सर्व ज्ञानेन्द्रियों में श्रवण इन्द्रिय प्रमुख है। अन्य ज्ञान इन्द्रियाँ श्रवण के बाद और पीछे हैं।

२८—गतिहीन क्षेत्र पर दीर्घ काल तक आकर्षण का प्रभाव पड़ने के बाद ही कोई ऊँची या नीची रचना होती है। समय के पूरा होने पर यानी मुनासिब वक़्त के आने पर पहले शब्द होता है और तब रचना का कार्य शुरू होता है। इस कार्रवाई को बतलाने के लिए सभी धर्मों ने 'समय की पूर्णता' शब्दों का प्रयोग किया है। जिसको सेंट जॉन ने 'वर्ड' कहा है, उससे मुराद शब्द ही से है। ईसाइयों का "होली घोस्ट" 'पिता' में 'पुत्र' को मिलाने वाली चैतन्य धार है। 'पुत्र' से अभिप्राय जीव से है जिसने इस देह में रहते हुए प्रभु से संबंध प्राप्त करने के कारण 'पिता' का 'पुत्र' कहलाने का अधिकार हासिल कर लिया है।

प्रकरण ७

"राधास्वामी"—परम पिता द्वारा घोषित किया हुआ अपना नाम

२९—जिस प्रकार कि उस अंडाकार रूप से अपने में सन्निहित करने, आलिंगन करने और घेरने का भाव प्रकट हुआ, उसी प्रकार उसके साथ होने वाले शब्द से भी वही भाव जाहिर हुआ जिसकी वाणी में निकटतम अभिव्यक्ति 'स्वा' शब्द से हो सकती है। "स्वा" शब्द के बाद 'मी' शब्द हुआ जिससे यह जाहिर होता है कि सर्व चैतन्य शक्तियों का रुख या मुख अंदर की तरफ़ केन्द्र यानी भंडार की ओर है। जब परम पिता ने अपने आपको प्रकट किया तब उसने उस शब्द से जो उससे निकला, घोषित किया कि "मैं सब को घेरे और आकृष्ट किए हूँ, सब कुछ मुझ पर आधारित है, सब कुछ मेरे द्वारा रक्षित है।" यह 'स्वा' शब्द से अभिप्राय है। "सब कुछ मेरे भीतर है", यह "मी" शब्द का अर्थ है। इस प्रकार परम पिता ने "स्वामी" शब्द से स्वयं को घोषित किया।

३०—वह भंडार प्रेम का महासागर था। शब्द के साथ उसमें बाढ़ आई। उसमें जो शब्द उठा, वह उस सर्वालिंगनकारी प्रेम की बाढ़ के साथ होने वाला घोर था। प्रेम के सिंध में जो अपने आप यह बाढ़ आई, वह सर्व कल्याणकारी दया की एक विशाल हिलोर या लहर

थी। यह मालिक की "मौज" कहलाती है। इसी का नाम "राधा" है। प्रेमातिरेक या प्रेमानन्द से उत्पन्न होने वाला यह प्रेम और दया का प्रवाह है। जिस प्रकार एक शराबी की यही इच्छा रहती है कि दूसरे लोग भी उसकी नशे की मस्ती में शरीक हों और उस समय निःस्वार्थ भाव से उदार बन जाता है, उसी प्रकार कुल्ल-मालिक की यह मौज थी कि सब उसके आनंद में शामिल हों। परम पिता के जौहर को अगर गुण कहा जावे तो प्रेम उसका प्रथम गुण है।

३१—सिंध की बाढ़ से जो धार निकली उसमें वह चैतन्यता थी जो अनामी पुरुष में नीचे से खिंच कर आई थी। वही चैतन्यता अब रचना के कार्य के लिये नीचे उतरी। चैतन्यता की इस राशि के बिना रचना कार्य आरंभ नहीं हो सकता था। जिस प्रकार अंडाकार प्रथम भंडार, रूपवान मालिक की काया था, उसी प्रकार यह धार उसकी सांस थी। जब धार निकली (जब श्वास क्रिया प्रारंभ हुई) तभी रचना का कार्य आरंभ हुआ। दूर का एक दृष्टान्त इस संबंध में बालक के जन्म का दिया जा सकता है। जन्म से पहले जीव सहसदलकँवल में चैतन्य समाधि की अवस्था में रहता है। जब सुरत देह में प्रवेश करती है, उस वक़्त देह के सभी अंग और इन्द्रियाँ अविकसित और अपूर्ण दशा में रहती हैं। बच्चा जब सांस लेना शुरू करता है तभी दैहिक क्रिया आरंभ होती है। इस मिसाल की ज़्यादा तफ़सील में नहीं घुसना चाहिए क्योंकि वे बाद को पैदा होती हैं या अगर शुरू में ही

प्राथमिक अवस्था में भी होती है तो कम से कम वे इस रूप में नहीं पाई जातीं जिसमें कि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पाने की आशा करते हैं। ऐसे दृष्टांतों का प्रयोग करना ख़तरनाक हैं, पर यदि उनका ठीक अर्थ लगाया जावे तो वे बड़े मूल्यवान हैं।

३२—समूहीकरण क्रिया से अनिवार्यतः तीन विभाग पैदा होते हैं :—

(१) मस्तक या धनात्मक ध्रुव अथवा सघन ध्रुव जहाँ समूह की अधिकतम अवस्था होती है।

(२) चरण या ऋणात्मक ध्रुव अथवा विरल ध्रुव जहाँ न्यूनतम अवस्था होती है।

(३) दोनों के बीच का निरपेक्ष क्षेत्र।

३३—यहाँ धनात्मक ध्रुव तो कुल्ल-मालिक या अनामी पुरुष थे। उदासीन या निरपेक्ष क्षेत्र के उस भाग में जो परम पिता से ठीक लगा हुआ था, प्रथम रचना अथवा निरमल चैतन्य के देशों की रचना हुई। उदासीन क्षेत्र के नीचे के भाग में ब्रह्मांडों की रचना हुई जो निम्न कोटि की रचना का एक भाग है। जिस भाग में चैतन्य की अत्यन्त न्यून अवस्था थी, उसमें पिंड देशों की रचना हुई। यह भी निम्न रचना के भाग हैं। इन्हीं में से एक पिंड में हमारी पृथ्वी अवस्थित है।

३४—भास रूपी न्यून चैतन्य के उस भाग में जो अनामी पुरुष के आकर्षण से आकर्षित न हो सका, अलग २ व्यक्तियाँ कायम हुईं और इस प्रकार कुल क्षेत्र उन सुरतों

से भर गया जो कि बेहोश पड़ी हुई थीं। धार निकलने और उसके द्वारा रचना करने का मुख्य उद्देश्य इन्हीं सुरतों को जगाने और पूरे होश में लाने का था।

प्रकरण ८

सुरतों की अलग २ व्यक्तियाँ बनना

३५—सुरतें हमेशा से कुल्ल-मालिक का अविभाज्य अंग थीं। उनकी व्यक्तियाँ इस प्रकार कायम हुईं। चूँकि सघन ध्रुव से जिस कदर बाहर या नीचे की ओर दूरी बढ़ती गई, उसी कदर क्रमशः चैतन्यता में कमी आती गई, इसलिये न्यून चैतन्य वाला कुल भाग अलग २ स्तरों या तहों में बँटता गया जिनकी चैतन्यता में भी शनैः शनैः कमी आती गई। अलावा इसके ध्रुव की कशिश से स्तरों पर आवरण चढ़ते गए। प्रत्येक स्तर या तह अपने आवरण या ग़िलाफ़ के द्वारा अपने निकट-वर्ती स्तर या तह से अलग या जुदा होती गई। इन आवरणों या ग़िलाफों की चैतन्यता और भी कम दरजे की थी। अपरंच परम पिता से निकली हुईं निरन्तर क्रियाशील आकर्षण शक्ति की रेखाएं, इन नए उत्पन्न हुए स्तरों को जहाँ काटती थीं, वहाँ के कटाव बिन्दुओं पर चेतनता को केन्द्रित करती रहीं।

३६—इस प्रकार चैतन्य आकर्षण की तीव्रता में जैसे २ फ़र्क़ आता गया, चैतन्यता के अगणित केन्द्र पैदा होते गए। आकर्षण की बाहर निकलने वाली प्रत्येक रेखा पर ऐसे २ अनेकों केन्द्र बने। प्रत्येक ऐसा केन्द्र क़ायम

होते ही एक वैयक्तिक तथा सुप्त ज्ञानमय 'सुरत' बनी, हालाँकि वह उस समय बे-होशी की हालत में पड़ी हुई थी। यह सुरतें अपने आवरणों या ग़िलाफ़ों द्वारा एक दूसरे से पृथक थीं क्योंकि उनके वैयक्तिक केन्द्रीकरण से जो आवरण या ग़िलाफ़ उनके चारों ओर बने थे, वे एक दूसरे से अलग हो गए। इसको समझने के लिए नारंगी का उदाहरण दिया जा सकता है। नारंगी की हर एक फाँक एक मोटे ग़िलाफ़ से चारों ओर घिरी हुई होती है। उसके बाद एक अन्य आवरण बहुत बारीक और पतला होता है। हर एक फाँक में बे-शुमार रस के कोष होते हैं जिनके आवरण हवा में उड़ने वाले मकड़ी के जाले की तरह इतने पतले और बारीक होते हैं कि ज़रा से मलने में स्वयं अपने रस में घुल जाते हैं।

३७—न्यारी २ सुरतों के न्यारे २ आवरण या ग़िलाफ़ होने चाहिए। यदि आवरण या ग़िलाफ़ न हों तो एक घाट पर एक सी चैतन्यता रखने वाली सुरतें एक दूसरी में मिलकर एक हो जावेंगी। इस प्रकार आवरणों या ग़िलाफ़ों से ही सुरतों की अलग २ व्यक्तियाँ क़ायम रह सकती हैं। केवल राधास्वामी दयाल ही आवरण रहित पुरुष हैं। हमारे लोक में यानी पिंड देश में ग़िलाफ़ या आवरण तन और मन के रूप में हैं। त्रयात्मक या त्रिविध बनावट और व्यवस्था जिससे हम परिचित हैं, सदा सुरक्षित रक्खी जाती है। होश में रहने के लिए इन तीन चीज़ों की ज़रूरत है। तीनों में से किसी एक के निष्क्रिय या निश्चेष्ट हो जाने

पर, जैसे लक़वा या पक्षाघात से शरीर की क्रियाएँ बंद हो जाने पर, होश जाता रहता है।

३८—शुद्ध चैतन्य के देशों में अलबत्ता आवरण या ग़िलाफ़ मन और माया के बने हुए नहीं हैं। प्रत्युत वे चैतन्यमय हैं मगर हमारे मन और तन से उनकी मुशाबहत या समानता यह है कि हैं वह आवरण ही, क्योंकि उनके अन्दर जो सुरत बैठी हुई है, उसकी चैतन्यता के मुक़ाबले में उनकी चैतन्यता कम है। कमी चैतन्यता से ही आवरण या ग़िलाफ़ पैदा हुए। चैतन्यता की कमी का नाम ही आवरण या ग़िलाफ़ है। नीचे के देशों में आवरण या ग़िलाफ़ अधिक घने या मोटे हैं और सुरतों की चैतन्यता में भी ज़्यादा कमी आ गई है। लेकिन बाहर का ग़िलाफ़ चैतन्यता के हिसाब से चाहे कितना ही कमज़ोर क्यों न हो, उसके अन्तर के अन्तरगत हमेशा चैतन्यता का एक ऐसा सूत या डोरा होता है जो अपने जौहर या ख़्वास में ऊँचे से ऊँचे दरजे का होता है। यदि ऐसा न होता तो रचना का बिखेर या विनाश हो जाता।

३९—आवरण स्वयं अपना व्यक्तिगत अस्तित्व या होश और ज्ञान नहीं रख सकते। आवरण को सुरत से संबंधित होने की जरूरत है। आवरण और सुरत एक दूसरे के पूरक या सहायक हैं। अगर आवरण अपने से मुताबिक़त रखने वाली सुरत से अलग हो जावे तो वह बे-होश, जड़वत् और बे-जान हो जावेगा। हमारी जानकारी का एक उदाहरण शरीर की चमड़ी या खाल है। जब तक वह जीवित शरीर का अंग बनी रहती है,

उसको सुरत और देह शक्ति मिलती रहती है। लेकिन ज्योंही उसको छीलकर उतार दिया कि उसकी सजीवता जाती रहती है।

प्रकरण ६

माया या माद्दे का पैदा होना

४०—आवरणों या ग़िलाफ़ों के इस प्रकार अवस्थित होने से माद्दे या द्रव्य की उत्पत्ति हुई। आरम्भ में माद्दा या द्रव्य मौजूद न था। केवल निर्मल चैतन्य या शक्ति थी। माद्दा या द्रव्य मानो शक्ति का ठोस या र वादार होना है यानी शक्ति के ठोस और स्थूल यानी बे-हरकत होने पर माद्दा पैदा हुआ। और यह ठोसपन सुरत की चैतन्यता में कमी होने से पैदा हुआ जिसका कारण ऊपर बतलाया जा चुका है।

४१—विज्ञान का दावा है कि बिना माद्दे के शक्ति का वजूद और अस्तित्व नहीं हो सकता। इस ग़लती का कारण यह है कि जिस ज्ञान पर सायंस आधारित है, उसकी गति माद्दे के घाट के परे नहीं है। इसलिये यह ग़लत नतीजा निकाला गया कि बिना माद्दे या द्रव्य के संयोग के जीवन संभव नहीं है।

४२—परम भंडार से लगे हुए हिस्से में जो चैतन्य केन्द्र थे, उनको तुच्छ न समझना चाहिये, यद्यपि परम भंडार के प्रकाश पुञ्ज के सामने वे वास्तव में ऐसे ही थे।

यद्यपि रचना होने से पहले वे बेहोश अवस्था में थे, उनमें बहुत भारी चैतन्यता गुप्त रक्खी हुई थी। इस बेहोशी का कारण तो एक मात्र चैतन्य की कमी ही थी, किन्तु एक गौण कारण खुद आवरणों या ग़िलाफ़ों का होना भी था जो कि चैतन्यता की कमी से पैदा हुए।

४३—दूसरी तरह इसी को यों भी कह सकते हैं कि उनकी बेहोशी का कारण यह था कि उनमें पुरुष के समान प्रेम करने की योग्यता नहीं थी। पुरुष के प्रेम की तीव्रता में वे चौंधिया सी गई थीं, गुम सी हो गई थीं। उनमें इतनी चैतन्य शक्ति नहीं थी कि पुरुष के आत्यंतिक प्रेम और आनन्द के सामने अपने होश हवास क़ायम रख सकें।

४४—इस प्रकार परम पुरुष के चरनों में असंख्यों सुरतें, कम चैतन्य ग़िलाफ़ों में लिपटी हुईं सुप्तावस्था में पड़ी हुईं थीं।

प्रकरण १०

प्रथम मंडल की रचना

४५—बेहोशी में पड़ी हुई सुरतों को जगाने का कार्य इस प्रकार हुआ :—

४६—भंडार से धार निकलने के साथ एक भारी कंपन हुआ जिसने आवरणों या ग़िलाफ़ों को फाड़ दिया और सुरतों को उनसे (आवरणों से) मुक्त कर दिया। आकर्षण के केन्द्र (भंडार) और धार ने उनको खींचा।

बहुत सी सुरतों को खुले हुए आवरणों से मुक्त कर परम भंडार की ओर खींचने के लिए यह आकर्षण पर्याप्त था। जिनमें चैतन्यता बहुत ऊँचे दरजे की थी, वे भंडार में आकर्षित हो गईं और मानो वे पुरुष के नव जात शरीर के कोषाणु बन गईं। किन्तु उन्होंने अपनी अलग हस्ती या वजूद नहीं खो दिया। उनके और भंडार के अथवा राधास्वामी दयाल के बीच जो विभाजक रेखा है, वह नित्य क़ायम रहेगी। उसमें कोई फ़र्क नहीं आ सकता। अगर फ़र्क आ जावे तो नित्यता कैसे रहे ?

४७—अन्य वे सुरतें जिनमें चैतन्यता कम दरजे की थी, नीचे घाट पर ही रुक गईं और वहाँ अपने अनुकूल नित्य या शाश्वत स्थान बना लिया जिस स्थान के आनन्द में तृप्ति या संतुष्टता आ जावे, उस स्थान पर सुरत के पहुंचने पर कहा जाता है कि वह अपने योग्य विशिष्ट स्थान पर पहुंच गई। जैसा कि कहा जा चुका है, यह एक नियम है कि अपनी चैतन्यता के दरजे के हिसाब से जहाँ पहुंचने के लायक़ कोई सुरत है, उससे ऊपर अगर वह जावे तो बेहोश हो जावेगी। अपने घाट पर वह होश में रहेगी। लेकिन उससे ऊपर के घाट पर ले जाई जावे तो बेहोश हो जावेगी। ऊँचे दरजे की शक्ति की धार की सहायता मिले तो अलबत्ता होश रखते हुए ऊपर जा सकती है। ऊँचे घाट के आनन्द की तीव्रता और प्रचण्डता के सामने होश हवास क़ायम रखने की उसमें रूहानी क़ाबलियत न होगी। वहाँ के महा आनन्द की मस्ती में होश हवास खो देगी।

४८—यही कारण है कि जिस घाट पर जो जीव है, वह यदि वहाँ होश की हालत में नहीं रह सकता तो उसको इस वास्ते नीचे उतरना पड़ेगा कि होश में आवे और ज्ञान प्राप्त करने की जो कुछ भी शक्ति उसमें हो, वह बरबाद न जावे। यही कारण है कि कभी २ मनुष्य चोले से पशु योनि में उतार होता है।

४९—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भंडार और धार के आकर्षण या कशिश में खिचने से सुरतें बेहोशी से होश के आलम में आगईं। होश प्राप्त कराने के दो कारण हुए। एक तो वे आवरणों या ग़िलाफ़ों के खिचाव या दबाव से छूट गईं। दूसरे, चैतन्य धार का पुनः जीवन डालने वाला अथवा ताज़गी बख़्शने वाला प्रभाव पड़ा।

५०—किसी क़दर ग़िलाफ़ भी ऊपर खिच आए, लेकिन इतने ऊपर नहीं जितने उनमें बैठने वाली सुरतें खिचीं क्योंकि सुरतों के ब-निस्बत ग़िलाफ़ कम चैतन्य थे, इसलिये भंडार की खींचने वाली ताक़त का ग़िलाफ़ों के ऊपर इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरी बात यह भी थी कि ऊँचे घाट की ओर चढ़ जाने पर ग़िलाफ़ होश के आलम में नहीं रह सकते थे। ग़िलाफ़ 'पीछे छूट गए', सुरतें आगे खिच गईं। जैसा कि नीचे समझाया जावेगा ये ग़िलाफ़ भी चैतन्य धार के असर से होश में आ गए। शुरू में जिन सुरतों को कि वे परिवेष्टित किए हुए थे, उनके साथ अगर वे लगे रहते तो होश में न आ सकते थे।

५१—अपने आवरणों या ग़िलाफ़ों से मुक्त होकर जब सुरतें अपने अन्तिम निवास स्थान पर खिंच कर ऊपर पहुँचीं तो वहाँ उनको ऐसे आवरण या ग़िलाफ़ मिले जो वहाँ तक खिंच कर ठहर गए या रुक गए थे। दोनों एक दूसरे से मिल गए। चूंकि सुरत को ग़िलाफ़ की ज़रूरत थी और ग़िलाफ़ को सुरत की ज़रूरत थी, दोनों एक दूसरे के पूरक थे, दोनों ही ज्ञानमय थे और अपने २ पूरक अंग की तलाश में थे, इसलिये ज्योंही एक घाट पर सुरत और ग़िलाफ़ मिले, वे तुरंत एक दूसरे से जुड़ गए। मिसाल के तौर पर पानी की एक बूंद धूल में डाल कर देखिये तो मालूम होगा कि वह धूल का आवरण धारण कर लेती है अथवा धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत् से भरी हुई दो वस्तुओं के परस्पर आकर्षण को देखिये। सुरतों और ग़िलाफों, दोनों की ज़रूरियात इस तरह पूरी हो गईं।

५२—इस प्रकार धारा की थरथराहट या कंपन और भंडार के आकर्षण के प्रभाव से सुरतों का एक बहुत बड़ा हिस्सा जाग गया और सुरतें और ग़िलाफ़ दोनों ही परम पिता के प्रेम, आनन्द और ज्ञान में पूरे होश हवास के साथ पूर्ण रूप से प्रेममय, आनंदमय और ज्ञानमय हो गए। इस प्रकार प्रथम मंडल या देश की रचना हुई।

५३—लेकिन बहुत सी सुरतें इस प्रकार जगाई न जा सकीं। उनके विषय में आगे चल कर कहा जावेगा।

प्रकरण ११

"राधा" धार का निकलना। ऊँचे से ऊँचे निज नाम का भेद, उसका प्रभाव

५४—चैतन्य धार के साथ प्रबल चैतन्य शब्द भी हुआ। उस धार के कंपन्न से थरथराहट पैदा करने वाली धुन या आवाज़ हुई जिसको मुँह से उच्चारण करके बतलाया जावे तो उसका श्रेष्ठतम सादृश्य "रा" में मिलेगा। उसके बाद सुरतों और ग़िलाफ़ों के अंदर और ऊपर की ओर खिचने की क्रिया के साथ जो धुन हुई, वह "धा" से ज़ाहिर होती है। इसलिये यह शब्द जगी हुई सुरतों का समाविष्ट होना सूचित करता है। किंतु यह उतना व्यापक नहीं है जितना "स्वामी" का "मी" जो सबको अपने में सम्मिलित तथा धारण करने का अर्थ प्रकट करता है। अतः धारा के साथ होने वाले शब्द "राधा" ने भंडार के शब्द "स्वामी" से मिलकर पूरे प्रारम्भिक रचना के कार्य को व्यक्त किया और इसलिए यही कर्त्ता का सच्चा नाम हुआ। इस प्रकार उस नाम का प्रकाश हुआ जिसको उसने स्वयं प्रकट किया। ऊपर से देखा जावे या इस विचार से देखा जावे कि पहले कौन सा शब्द हुआ और पीछे कौनसा, तो यह नाम "स्वामी राधा" होना चाहिये किंतु उसके लिए जो नीचे अवस्थित है, यह क्रम बदल गया। भक्त यानी नीचे से ऊपर को जाने वाली सुरत के लिए यह "राधास्वामी"

हुआ। भक्त और भगवंत के बीच सिलसिला क़ायम करने वाली कड़ी "धार" है। इसलिये भक्त को पहले धार के सन्मुख या संपर्क में आना पड़ेगा। धार ही उसको भगवंत यानी स्वामी के पास ले जावेगी।

५५—इसलिये स्वयं राधास्वामी ने यह निज नाम "राधास्वामी" घोषित किया। अन्य कोई इसे पूर्णतया नहीं जान सकता। परम पिता ने अपने नाम में ऐसी शक्ति रक्खी है कि जो कोई इस नाम को प्रेम से सुनेगा, उसको यह नाम एक रोज राधास्वामी पद में पहुँचा देगा जहाँ वह पूर्णतया परमानन्द का उपभोग करेगा। मगर बिना प्रेम के कुछ नहीं हो सकता।

५६—जब इस निज नाम की सच्ची महिमा सुरत में दरसेगी या समा जायगी, तब उसमें प्रेम जागेगा। मन को इस नाम की प्रतीत न आवेगी। वह प्रेम ऐसा होगा जैसा कि नव विवाहिता वधु अपने पति के स्पर्श से अनुभव करती है। उसके सारे शरीर में बिजली सी दौड़ जाती है, रोमांच हो जाता है। शरीर का प्रत्येक कोष्ठ पति के स्पर्शानन्द से भर जाता है। नाम का ऐसा ही असर होगा। तब सब ग़िलाफ़ों और पर्दों से निकल कर सुरत नग्न रूप में नृत्य करेगी। इस अवस्था का प्राप्त होना बहुत दूर की बात है, परंतु इस नाम और इसकी रक्षा करने वाली शक्ति में विश्वास आना, उस पर वाने या पासपोर्ट का मिलना है जिससे निस्संदेह एक दिन सुरत शुद्ध चैतन्य के पवित्र और आनन्दमय धाम में बड़ी शान से प्रवेश पावेगी।

प्रकरण १२

सुरत और शब्द

५७—चैतन्य धार के दो अंग थे। वास्तव में यह सुरत और शब्द की ही धारें थीं। एक दूसरे से रली मिली थीं। एक दूसरी में रत होकर इन धारों ने कार्य किया और उनके इस प्रकार मिल जाने से परम आनन्द की अवस्था पैदा हुई। सुरत की धार में केन्द्र बनाने का सामर्थ्य है। आकर्षण करने की शक्ति ख़ास तौर से शब्द की धार में है। "राधा" धार में सुरत के अंग का प्राधान्य है। किंतु जब इस धार ने केन्द्र या भंडार बनाया तो उसमें शब्द अंग की प्रधानता हो गई। केन्द्र या भण्डार से फिर धार निकली। इस प्रकार सुरत से शब्द हुआ और शब्द से सुरत हुई। शब्द और सुरत मानो पुरुष के व्यक्त शरीर की श्वास तथा प्रश्वास की क्रियाएँ हैं।

५८—प्रथम भण्डार राधास्वामी धाम या पद के आकर्षण से जो देश रचा गया, वहाँ की सुरतों को परम हंस कहते हैं। स्त्री पुरुष की मौलिक ख़ासियतों से मिलते जुलते अन्तर के अनुसार हंसों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। अगर्चे शुद्ध चैतन्य के देशों में औरत मर्द के फ़र्क की कोई बात नहीं है, फिर भी उन सुरतों को पुरुष वर्ग में रक्खा जा सकता है जिनमें शब्द अंग का प्राधान्य है। बाक़ी सुरतें जिनमें सुरत अंग का प्राधान्य है, स्त्री वर्ग में रक्खी जा सकती हैं। किंतु यह कह देना

ज़रूरी मालूम होता है कि जिस तरह का दाम्पत्य धर्म इस दुनिया में पाया जाता है, उस तरह का कोई विचार किंचित मात्र भी उन लोकों के वासियों के लिए मन में नहीं लाना चाहिए।

५९—जगाई गई सुरतों के अतिरिक्त उस प्रथम बृहद धार के साथ फव्वारे की छींटों की बूंदों की तरह बहुत सी छोटी २ धारें भी आईं। धारें (या बूंदें) राधास्वामी धाम की बासी सुरतें हैं जिनको 'निज अंस' कहते हैं। यह मालिक की हम-ज़ात और हम-जौहर हैं। इन अंस सुरतों की संतान भी हैं जिनको 'बंस' कहते हैं।

प्रकरण १३

अगम लोक की रचना

६०—दूसरा भण्डार जिसको बनाने के लिये "राधा" धार रुकी, रचना के दूसरे मंडल यानी अगम लोक का केन्द्र हुआ और वही अगम पुरुष की काया है। अपने चारों ओर के चैतन्य को आकृष्ट कर उसने अपने शरीर का निर्माण किया। उसकी श्वास क्रिया प्रारम्भ हुई यानी चैतन्यमय धारें निकलीं और उनके साथ धुन या शब्द उठा।

६१—रचनात्मक क्रिया द्वारा कुल्ल-मालिक से पहले पहल जो अलग वजूद में आया, वह अगम पुरुष की काया है।

प्रकरण १४

नया केन्द्र या भंडार बनाने की ज़रूरत

६२—अगम लोक की रचना करने के लिए "राधा" धार कहाँ ठहरी और आगे क्यों नहीं बढ़ती गई, इसको इस तरह समझाया जाता है। रचना करने वाली जो धार निकली, वह बिला शक बहुत ऊँचे दरजे की चैतन्यता लिए हुए थी। मगर बेहोश पड़ी हुई सुरतों को जगाने का हितकर कार्य, वह केवल एक सीमित फ़ासले या दूरी तक ही कर सकती थी, यानी उस दूरी तक जहाँ तक कि उन सुरतों की चैतन्यता और उस धार की चैतन्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं था। यदि जगाई जाने वाली सुरतों की चैतन्यता और उस धार की चैतन्यता में कोई बड़ा अन्तर होता तो उस धार के प्रभाव से तोड़ फोड़ हो जाता। बिजली का दृष्टांत इस संबंध में दिया जा सकता है। तांबे के तार में बिजली का प्रवाह हो सकता है, किन्तु पत्थर में नहीं, क्योंकि पत्थर में बिजली क़रीब २ नहीं के बराबर है। पत्थर में प्रवाहित करने के लिए अगर बिजली की मात्रा या शक्ति बढ़ाई जावे तो वह पत्थर को तोड़ देगी।

६३—इसी को यों भी कहा जा सकता है कि कुछ फ़ासले या दूरी तक बढ़ने के बाद ऐसी अवस्था या स्थिति पैदा हुई कि धार की चैतन्यता और आगे यानी नीचे की सुरतों की चैतन्यता में मानो एक प्रकार की पृथकता

आ गई और धार का उन सुरतों पर कुछ असर नहीं पहुँच सकता था। धार तब रुक गई और नया केन्द्र बनाया जहाँ से रचनात्मक क्रिया की फिर से कार्रवाई शुरू हो सके। यह कार्रवाई वहाँ की चैतन्य शक्ति द्वारा हुई जो कि ब-निस्बत पहले दरजे की रचना करने वाली धार की चैतन्यता के कम दरजे की थी और इसलिये अब वहाँ की निद्रित अवस्था में पड़ी हुई सुरतों को जगाने के लिए वह अनुकूल थी। उनसे उसकी पृथकता नहीं थी। नए केन्द्र के बनाने की जरूरत इसलिये भी पैदा हुई कि एक निश्चित और सीमित दूरी से आगे कोई केन्द्र आकर्षण का असर नहीं पहुँचा सकता। आकर्षण के केन्द्र और बेहोशी की हालत में पड़ी हुई सुरतों के बीच की दूरी अगर बहुत ज्यादा हो जाय तो सुरतें उस आकर्षण से आकर्षित नहीं हो सकतीं।

६४—चैतन्य के उस भंडार से जिसको अगम पुरुष कहते हैं, धार निकली जिसकी चैतन्यता ब-मुक़ाबले प्रथम भंडार से निकलने वाली धार के, जैसा कि ऊपर कहा गया है, थोड़ी कम दरजे की थी। इस धार की थरथराहट यानी इसके साथ होने वाली धुन या आवाज़ से इर्द गिर्द की सुरतें जाग उठीं और अगम पुरुष की आकर्षण शक्ति (जो ऊपर के भंडार के आकर्षण से किसी क़दर कम थी) के प्रभाव में इस नए केन्द्र या भंडार की तरफ़ खिची।

६५—अब अगम लोक की रचना इसी तरह आरंभ हुई जिस तरह कि ऊपर के मंडल की रचना हुई थी। इस रचना की जगी हुई सुरतें भी परम हंस कहलाती हैं। यहाँ भी निज अंस और बंस हैं।

प्रकरण १५

अलख लोक की रचना

६६—अगम पुरुष से निसृत धार भी जहाँ तक कार्रवाई कर सकती थी, बढ़ी। आगे बढ़ने का फ़ासला भी उन्हीं कारणों से निश्चित हुआ जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ज्यों २ यह धार आगे बढ़ती गई, उसके इर्द गिर्द की चेतनता कम होती गई यहाँ तक कि इसको भी रुकना पड़ा। तीसरा भंडार बना जो कि तीसरे दरजे अलख लोक का मूल हुआ। अलख लोक के धनी अलख पुरुष की काया बनी।

६७—यहाँ की जगी हुई सुरतें भी परम हंस कहलाती हैं और ऊपर के मंडलों की तरह यहाँ भी निज अंस और बंस सुरतें हैं।

प्रकरण १६

अनामी, सत्तलोक और भँवरगुफा की रचना

६८—क्रमशः नीचे घाटों पर इसी प्रकार के और तीन मंडलों या लोकों की, यथा :—अनामी, सत्तलोक और भँवरगुफा की रचना हुई जिनके धनियों के नाम अनामी, सत्तपुरुष और सोहंग पुरुष हैं। इस अनामी और कुल्ल-मालिक 'अनामी पुरुष' को एक नहीं समझना चाहिए।

६९—इन तीन निम्न लोकों की जगी हुई सुरतें हंस कहलाती हैं। यहाँ भी प्रत्येक लोक के अधिष्ठातृ पुरुष के साथ निज अंस सुरतें हैं और उनसे जिनकी उत्पत्ति हुई, वे बंस सुरतें भी हैं।

७०—जिस रचना का ऊपर वर्णन किया गया है उसका कभी अंत या नाश न होगा। यह कहना ग़लत है कि जिसका आदि या शुरू है उसका अंत या ख़ात्मा भी जरूरी है। एक समय था जब कोई रचना नहीं हुई थी। रचना आरंभ हुई। रचना का अंशतः अंत होगा और अंशतः नहीं।

७१—जो कुछ ऊपर बयान किया गया है उसको सामुहिक रूप से प्रथम रचना अथवा रचना का पहला

बड़ा दरजा या विभाग कहा जाता है। यह रचना निरपेक्ष क्षेत्र के ऊपर वाले हिस्से में हुई। यह रचना उन शक्तियों के प्रभाव से हुई जो भास की चैतन्यता को अंदर या ऊपर की तरफ आकर्षित कर रही थीं।

प्रकरण १७

सत्तदेश की रचना अविनाशी और अपरिवर्तनशील है

७२—सत्तदेश रचना का वह भाग है जिसका अंत नहीं होगा। सत्तदेश का निर्माण उस चैतन्यता से हुआ है जो इतने ऊँचे दरजे की थी कि एक बार जागृत या पुरुष की ओर आकृष्ट होने के बाद सदैव जागृत रही है और रहेगी। रचना से पूर्व वह अस्थायी अवस्था में थी, पर चैतन्य हमेशा बेहोशी की हालत में नहीं रह सकता है। यदि किसी रीति से अथवा किन्हीं परिस्थितियों वश जड़ समाधि या व्यक्तिगत अचेत अवस्था उत्पन्न हो जावे तो यह निश्चित है कि वह अवस्था हमेशा रहने वाली न होगी क्योंकि उससे चैतन्य शक्ति का ह्रास हो जायगा और ऐसा हो नहीं सकता।

७३— रचना से पहले जो बेहोशी की हालत थी उस में रद्दोबदल होना जरूरी था। लेकिन वह रद्दोबदल एक बार हो जाने पर सत्तदेश के लिये हमेशा क़ायम रहने वाली हालत पैदा हो गई।

७४—लेकिन नीचे की रचना के लिए यह बात लागू नहीं है। चैतन्यता में बहुत कमी हो जाने के कारण वहाँ इस क़दर विशेष जड़ता पैदा हो गई थी कि वह पूरे तौर पर दूर न हो सकी। जड़ता का बीज मौजूद है जो आगे फल देगा और अन्त में नीचे की रचना को फिर उसी पहले वाली बेहोशी की हालत में ले आयगा, हालांकि यह परिवर्तन बहुत बहुत दीर्घ काल के पश्चात् होगा। अन्तरमुख आकर्षण एक निश्चित् समय के लिए ही अपना प्रभुत्व स्थापित रख सकता है, वह समय चाहे कितना ही लम्बा हो। इसलिए ब्रह्मांड और पिंड का अन्त अवश्य होगा। रचना का यह भाग फिर पूर्व वर्णित रचना से पहले वाली हालत में लौट आवेगा।

७५—चैतन्य की न्यूनाधिकता के कारण जो परिवर्तन हुए, उनके लिहाज से कुल वजूद के मोटे तौर पर तीन दरजे हुए। प्रथम निर्मल चैतन्य के समूह का महान विभाग जिसमें न कभी कोई रद्दोबदल हुआ और न होगा। वह हैरत रूप अखंड, अथाह और दवामी है। वह कुल्ल मालिक अनामी पुरुष है। उसमें कभी कोई रद्दोबदल हुआ ही नहीं। दूसरा हिस्सा सत्तदेश है जिस में छः मण्डल सबसे ऊँचे हैं। इस हिस्से का चैतन्य क़रीब २ उसी तीव्रता का था जैसा कि कुल्ल-मालिक का। केवल हुबाबी ग़िलाफ़ चढ़ा था। इसमें दायमी ऐतदाल तथा नित्यता पैदा करने के लिये सिर्फ़ इतना ही काफ़ी और जरूरी था कि अनामी पुरुष से स्पर्श करे और जाग जाय। केवल

इतने ही से इसमें ऐसी हालत पैदा हो गई कि फिर कोई रद्दोबदल न होगा। यह निज भण्डार से बिल्कुल जुड़ा हुआ और लगा हुआ है। इसीलिये इसमें कभी भी चैतन्यता की कमी न होगी। केवल इसी भाग में सुरत और शब्द की धारें बराबर एक दूसरे में रत और समाई हुई हैं। तीसरा वह हिस्सा है जिसमें चैतन्य इस क़दर कम और कमज़ोर है कि उसमें हमेशा क़ायम रहने वाला ऐतदाल पैदा नहीं किया जा सकता था। वह ब्रह्मांड और पिंड की रचना है जहाँ थकाव की हालत आती है और रद्दोबदल होता रहता है।

७६—राधास्वामी मत के सिवा किसी अन्य मत ने इस महान रहस्य को नहीं जाना और न समझाया। अन्य मतों में, व्यास और वशिष्ट योगेश्वरों द्वारा प्रतिपादित मत या धर्म सबसे ऊँचा है। व्यास और वशिष्ट की गति उस स्थान से ऊपर थी जहाँ से कि वेद प्रकट हुए हैं। उन्होंने देखा कि वह रचना जिसका उन्हें ज्ञान था, अन्तवान और नाशमान है। इसलिये उन्होंने उपदेश किया कि ब्रह्म के सबसे ऊपर वाले रूप में लय होना परम ध्येय है। यह लय उसी प्रकार का है जैसा कि नमक का समुद्र में घुल जाना। ब्रह्म यानी काल के तीन स्वरूप यानी अवस्थाएँ है। (१) माया सबल ब्रह्म अथवा वह जिसके साथ माया लगी हुई है। (२) साक्षी ब्रह्म जो स्वयं कुछ नहीं करता, केवल साक्षी होकर देखता है। (३) शुद्ध ब्रह्म जो सर्व रचना और सर्व क्रिया से बिल्कुल परे है।

यह तीनों अवस्थाएँ जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं जैसी हैं।

७७—योगेश्वरों का अन्तिम लक्ष या ध्येय ब्रह्म की तीसरी अवस्था में लय हो जाना था। उन्होंने देखा कि उनमें इतनी चैन्तयता नहीं है कि वे उस स्थान के भारी आनन्द के सामने अपना होश क़ायम रख सकें और न उन्होंने अपने को इस योग्य पाया कि उस अवस्था को प्राप्त कर सकें। उनके अनुयायियों या शिष्यों की तो बात ही क्या ? उस पद के आनन्द की मस्ती में उनके होश जाते रहे और वे गुम हो गए। जब फिर नई रचना का उत्थान होगा, तब वे फिर होश में आवेंगे। उस समय अलबत्ता वे महान आत्माओं या उच्च श्रेणी के जीवों के रूप में पैदा होंगे क्योंकि यह नियम है कि न तो व्यक्तिगत जीव का नाश होता है और न जो कुछ आध्यात्मिक क्षेत्र में प्राप्त कर लिया है उसका ह्रास होता है।

७८—यद्यपि कुछ समय के लिए ऐसी ऊँची गति वाले जीवों को मृत्यु के मुकाम के ऊपर बासा मिलता है, परन्तु जब तक वह सत्तदेश में न पहुँचे, किसी जीव के लिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह नीचे नहीं गिरेगा।

७९—लेकिन ऐसे योगेश्वर आदि जीव जो ब्रह्मांड की चोटी पर पहुँच गए हैं और जो कि ब्रह्म या काल के जीव हैं (न कि ब्रह्मांड के सच्चे आत्म पद, अक्षर पुरुष से सम्बन्धित हैं) सत्तलोक में जाना ही नहीं चाहते।

जहाँ वे हैं, वहाँ वह बहुत ही संतुष्ठ हैं और इसीलिए वह और ऊँचे लोकों में जाना कभी न चाहेंगे। मामूली जीव यद्यपि उनके मुक़ाबले में अशक्त और गिरा हुआ मालूम होता है, ज्यादा भाग्यवान है।

८०—किसी चीज़ की चाह का होना ज़ाहिर करता है कि उसको प्राप्त करने की योग्यता भी है। कोई ऐसी चाह या आस नहीं है जो सदैव अपूर्ण रहे। हर तरह की चाह और आस जो जीव में उठ सकती है, पूरी की जावेगी।

प्रकरण १८

सत्तदेश के वासियों का जीवन

८१—इस विषय में थोड़ा सा ही कहा गया है, किन्तु वास्तव में हमको ऐसे जीवन का जहाँ मन तन और इन्द्रियाँ नहीं हैं, महज़ ख़फ़ीफ़ सा अनुमान ही हो सकता है। जिन सुरतों को जगाकर सत्तदेश की रचना की गई, उनमें तन और मन कभी था ही नहीं। और जो सुरतें नीचे के लोकों से वापिस आती हैं, वह मन और तन वहीं छोड़ आती हैं। नीचे के लोकों में जो सुरतें हैं, वे बाहरी रचना का ज्ञान स्वयं नहीं प्राप्त कर सकतीं, इसलिये मन और इन्द्रियों की जरूरत होती है जिनके द्वारा वे बाहर की रचना से संपर्क करके उसका ज्ञान प्राप्त करती हैं। बाहर की रचना से संबंध स्थापित करने के लिये जरूरी है कि वहाँ के स्थूल मसाले की बनी हुई कर्म

इन्द्रियाँ हों जो उस रचना से मुताबिक़त रखती हों और सूक्ष्म मन और ज्ञान इन्द्रियाँ हों जो सुरत और कर्म इन्द्रियों के बीच सूक्ष्म संबंध स्थापित कर सकें। इन कर्म इन्द्रियों का भी जीवित होना ज़रूरी है यानी उनमें सुरत की ताक़त बहम पहुँचनी चाहिए ताकि वह अहसास कर सकें। अगर मस्तिष्क (जो कि ज्ञानवाह धारों का कोष है) बेकार हो जावे तो कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होगा। ऊपर के देशों में सब चैतन्य ही चैतन्य है। इसलिए ज्ञाता और ज्ञेय एकसाँ हैं। चैतन्य धामों की बासी सुरतों की देह भी चैतन्यमय है। हम लोगों में सुरत की बैठक के स्थान पर जो चैतन्य है उससे कहीं अधिक शुद्ध चैतन्य की काया वहाँ है। इसलिए ऊपर के देशों में औज़ारों, सूक्ष्म इन्द्रियों और मानसिक अवयवों की ज़रूरत नहीं है। वहाँ की चैतन्य काया स्वयं ज्ञानमय है। हमारे मष्तिक की अपेक्षा उसमें इतनी ज़्यादा ज्ञान की क्षमता है कि दोनों की तुलना नहीं हो सकती और वह अपने चारों ओर की चैतन्यमय रचना से बिना किसी ज़रिये के सीधे सम्पर्क में है।

८२—लेकिन जैसे २ सुरत का उतार होता जाता है, उसमें और उसके चारों ओर की रचना के बीच अधिकाधिक बढ़ने वाले अन्तर और अलगाव को जोड़ने की ज़रूरत होती है और जितना ज़्यादा उतार होता है उतने ही अधिक जोड़ने और सम्बन्ध स्थापित करने वाले ज़रिये यानी इन्द्रियाँ वग़ैरा स्थूल होती जाती हैं और उनके द्वारा

बाहर की रचना के जो चित्र अथवा नक्श क्षेत्रज्ञ अथवा जीव तक पहुँचाए जाते हैं, वह उतने ही मिथ्या और भरम पैदा करने वाले होते हैं। उदाहरणार्थ, पशुओं के ग़िलाफ़ मनुष्य की अपेक्षा ज़्यादा मोटे और स्थूल होते हैं। वनस्पति रचना में और भी ज़्यादा मोटे और स्थूल।

८३—नीचे की रचना में पाई जाने वाली तीन अंगी बनावट से मिलती जुलती अवस्था सत्तदेश की सुरतों में भी पाई जाती है। तन मन और सुरत, इन तीन अंगों के समान सत्तदेश में भी आकर्षण शक्ति वहाँ के बासियों में तीन विभाग पैदा कर देती है, लेकिन वहाँ वे सब शुद्ध चैतन्य के बने हुए हैं। प्रत्येक वासी में तीन चक्र कारकुन या क्रियाशील रहते हैं। पहला वह जो मनुष्य चोले के हृदय चक्र यानी पिंडी मन के स्थान से मुताबिक़त रखता है। दूसरा जो कंठ चक्र यानी ऊपर के मन के स्थान से मुताबिक़त रखता है। तीसरा वह जो तीसरे तिल यानी सुरत की बैठक के स्थान से मुताबिक़त रखता है। मनुष्य चोले वाले नीचे के तीन चक्र यानी मल त्याग करने, सन्तानोत्पति का कार्य करने और शरीर की सम्हाल करने वाले तीन चक्र चैतन्य काया में विकसित नहीं होते।

८४—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह सूचित होता है कि सत्तदेश में सुरतों के आकार हैं। निस्संदेह ऐसा कहा गया है कि वहाँ रूप रंग रेखा नहीं है। मगर यह बात नीचे के लोकों में रहने वाले जीवों के प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध से ठीक समझना चाहिए और जो अन्यत्र ऐसा

कहा गया है कि वहाँ रूप रंग रेखा है, यह कथन वहाँ की बासी सुरतों के सम्बन्ध से ठीक है, वहाँ के बासियों को वहाँ का रूप रंग रेखा वास्तव में दिखाई देता है। नीचे की रचना में पाई जाने वाली तीन अंगी बनावट के सद्रश जो वहाँ फ़र्क है, वह नीचे के लोकों में बसने वाले जीवों को नहीं महसूस हो सकता। इसलिए जिस रूप रंग रेखा से नीचे के जीव परिचित हैं, वह रूप रंग रेखा दरअसल सत्तादेश में नहीं है।

८५—सत्तादेश के बासियों के हाथ पाँव जिह्वा आदि कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। इन सब औजारों की कार्रवाई वहाँ सिर्फ़ अहसास रूप में है। उनके रूप मनुष्यों से किसी क़दर मिलते जुलते हैं लेकिन ज्ञान शक्तियाँ बहुत विकसित हैं और उनसे संबंधित इन्द्रियाँ अथवा अंग भी बहुत ही विकसित हैं। उनके चेहरे या रूप अत्यन्त प्रकाशमान हैं। हंस सुरतों का प्रकाश सोलह सोलह सूर्यों के बराबर कहा गया है।

८६—ऊपर जो सत्तदेश के बासियों के रूप मनुष्यों के से कहे गए हैं, उसको खींच तान कर प्रत्येक अंग में सादृश्य स्थापित करना अवांछनीय है। सत्तदेश के वासियों की चैतन्य काया में भौतिक और स्थूल शरीर की सब इन्द्रियों, अंगों और क्रियाओं को मान लेना भारी ग़लती और भूल होगी। स्वामीजी महाराज ने फ़रमाया है कि वहाँ के बासियों की चैतन्य काया में मनुष्यों की सूरत शक्ल का नक़्शा पाया जाता है, किन्तु इससे

यह नतीजा निकालना कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसका उसी रूप में ज्ञान प्राप्त हो सकता है, ठीक नहीं है। हमारे सुरत केन्द्र और मानसिक केन्द्र पर जो ज्ञान शक्ति या बुद्धि हमको प्राप्त है, उससे कहीं अधिक ज्ञानमय तो उस देश का सामान्य चैतन्य है। फिर, उस देश की अवस्था का पूरा २ लखाव हमको किस प्रकार हो सकता है ?

८७—यह तो नहीं कहा जा सकता कि वहाँ हरकत यानी गति बिल्कुल नहीं है। लेकिन जैसी हरकत कि वहाँ हैं, उसको ज्ञान का फैलाव या तौसीअ यानी विस्तार कहा जा सकता है। कुल्ल-मालिक को अचल अडोल और स्थिर कहा है। वह चलता फिरता या हिलता डोलता नहीं है क्योंकि उसको चलने फिरने या हिलने डोलने की ज़रूरत ही नहीं है। उसकी चलने फिरने की आवश्यकता ज्ञान-शक्तियों के प्रसार द्वारा पूरी हो जाती हैं। कहाँ क्या हो रहा है, इसे जानने के लिए उसे चल कर कहीं जाने की ज़रूरत नहीं हैं। वह सब जगह है और उसको सब की सब ख़बर है। किसी क़दर छोटे हलक़े या दायरे में और कमीबेशी के साथ यही बात सत्तदेश के कुल बासियों के लिए भी लागू है। रचना के दूसरे दरजे में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति में सिकुड़न यानी कमी आ गई और इसलिए उसको पूरा करने के लिए लाज़मी तौर पर चलने फिरने या हिलने डोलने की ज़रूरत पैदा हुई। इस क़िस्म की हरकत नीचे

की रचना में उत्पन्न हुई, ऊपर नहीं। और इसका असल कारण चैतन्यता की कमी है। इसके बाद सबसे नीचे दरजे की रचना, जैसे वनस्पति रचना में हरकत यानी चलने फिरने की ताक़त नदारद है और न वहाँ ऊपर की रचना की तरह ज्ञान की तौसीअ या फैलाव ही है। होते २ नीचे के ध्रुव या सिरे पर फिर अडोल अवस्था आ गई है क्योंकि वहाँ चैतन्यता करीब-करीब नहीं के बराबर है। इस प्रकार दोनों ध्रुवों या सिरों पर अडोल अवस्था है। ऊपर अडोल अवस्था का कारण चैतन्य की पूर्णता और सर्व व्यापकता है। नीचे इस अवस्था का कारण चैतन्य की अत्यन्त न्यूनता है। एक में जीवन की सर्वोच्च दशा है, दूसरे में जड़ता और मौत है।

८८—सुरतें नीचे आईं क्योंकि वे ऊपर होश में नहीं आ सकती थीं यानी वहाँ के लायक़ ज्ञान-शक्ति उनमें नहीं थी। वे यहाँ कर्मेन्द्रियों के साथ ज्ञान-शक्ति बढ़ाने आईं। जब ज्ञान शक्ति पूरी जाग जायगी तब कर्मेन्द्रियों को यहीं त्याग सुरतें पूर्ण ज्ञान-शक्ति को प्राप्त कर लौट जावेंगी।

८९—चूँकि सत्तदेश के बासियों में कर्म इन्द्रियाँ नहीं है, इसलिए वहाँ कोई काम धन्धा भी नहीं है। आधुनिक विद्या बुद्धि के हिसाब से ऐसी हालत में कोई खुशी या मज़ा नहीं हो सकता क्योंकि उनके ख़्याल से काम काज में प्रवृत्ति होने में ही ख़ुशी और मज़ा है। लेकिन उनसे पूछना चाहिए कि आख़िर काम किस मतलब से किया

जाता है। काम करने का मतलब सुख के साधनों को प्राप्त करना ही तो है। और यदि बिना काम किए ही सुख मिल सके तो फिर क्या कोई काम करेगा ? जिस जगह सर्वोच्च कोटि का आनन्द सबको स्वतन्त्र रूप से प्राप्त है, जिस जगह सर्व इन्द्रियों के रस और मज़े अत्यंत तीव्र और शुद्ध रूप में स्वतन्त्रता पूर्वक प्राप्त हैं, ऐसी जगह में काम करने की कहाँ गुंजाइश है ? सत्तदेश में हर एक को दूसरे का हाल मालूम है। हर एक दूसरे को देखकर प्रसन्न है। हर एक दूसरे की ख़ुशी में ख़ुश है। सबकी ख़ुशी में अपनी ख़ुशी है। हम लोगों की दशा इसके विपरीत है। दूसरे के मन में क्या है, हम नहीं जानते। घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्रता में भी दो मित्रों को एक दूसरे के दिल का पता नहीं। हर एक व्यक्ति अपनी अपनी अलग दुनिया में रहता और काम करता है।

९०—ऐसा कहा गया है कि सत्तादेश में वसअत या दूरी और फ़ासला नहीं है। इसका यह मतलब है कि न केवल वहाँ की काया ही ज्ञानमय है बल्कि वहाँ कुल्ल देश ही स्वयं ज्ञानमय है। इसका हम कुछ अनुमान नहीं कर सकते। एक तो चैतन्य सर्वत्र व्याप्त या फैला हुआ है। दूसरे, वहाँ चैतन्य के केन्द्र हैं। ये केन्द्र ही वहाँ के बासी हैं। जो चैतन्य व्याप्त या फैला हुआ है, वह भी बाहोश और ज्ञानमय है। वही वह माध्यम या ज़रिया है जिससे ज्ञान की उपलब्धि होती है। व्याप्त या फैला हुआ चैतन्य यहाँ भी है, लेकिन वह बहुत ही कम तीव्रता का है। इसके अलावा उसकी कारवाई में स्थूल द्रव्य या माद्दे और मन

के ग़िलाफ बाधा और रुकावट पैदा करते हैं। लेकिन सत्तदेश में इस क़िस्म की कोई मुख़ालिफ़त या बाधा और रुकावट नहीं है।

६१—सत्तदेश में जो व्याप्त या फैला हुआ चैतन्य है, उसको समझने के लिए नर शरीर का दृष्टांत दिया जा सकता है। मनुष्य देह में जो चैतन्य सर्वत्र फैला हुआ मौजूद है, उसी से देह की सब क्रियाएँ होती और चलती रहती हैं। देह में सुरत की बैठक के स्थान पर जो सुरत विराजमान है उसको उसी फैले हुए चैतन्य द्वारा और उसी फैले हुए चैतन्य में होकर शरीर के दूर से दूर वाले अंगों और सिरों तक में जो कुछ होता है उसकी ख़बर पहुंच जाती है।

६२—और भी इस बात पर विचार करना चाहिए कि जिस जीव ने रूहानी तरक़्क़ी हासिल करके अपनी सुरत और अपने होश हवास को ऊँचे मुक़ाम या घाट पर पहुंचा कर वहाँ ठेका ले लिया है, वह अपने ग़िलाफ़ों या ख़ोलों को यानी अपनी देह को किस रीति से जीवित रखने में समर्थ होता है। उसकी रीति मामूली जीव से सर्वथा भिन्न है और यह ठीक भी है। क्योंकि अगर ऐसा न होता यानी मामूली जीव और महात्मा दोनों ही अपने २ दैहिक कार्यों को जो ज़ाहिरा एक से ही लगते हैं, एक ही प्रकार से संचालन करते होते तो फिर उन दोनों में फ़र्क़ किस बात का होता? जब महात्मा की सुरत ऊपर चढ़ती या जाती है तब सुरत तो अपनी नशिस्त,

होश और कार्य करने की शक्ति को सुरत केन्द्र से ऊपर किसी मुक़ाम या घाट पर साधे रहती है, किन्तु उसका भास रूप छूटा हुआ या फैला हुआ चैतन्य जो रह जाता है, वह देह की सँभाल करता है। इसके विपरीत मामूली जीव की सुरत स्वयं स्थूल आवरणों यानी तन और मन के साथ लिपट जाती है या जिन खोलों का उसे पालन करना है, उन्हीं खोलों में जज़्ब हो जाती है। इस प्रकार मामूली जीव के पास तन और मन से अलग और स्वतंत्र बहुत थोड़ी चैतन्य शक्ति रहती है। महात्माओं के पास देह से अलग और स्वतंत्र बहुत अधिक मात्रा में चैतन्य शक्ति रहती है।

९३—वे महान आत्माएँ जिन्हें ऊपर के मुक़ामों में गति प्राप्त हो गई है, अक्सर त्रिकुटी या सहसदलकँवल में दूसरा केन्द्र स्थापित कर लेती हैं जहाँ से वे भास रूप में फैले हुए चैतन्य द्वारा अपनी देह की सम्भाल किया करती हैं। महात्मा और मामूली जीव के सुरत केन्द्रों में जो फ़र्क़ होता है, उसको समझने के लिए रोशनी के दो मरकज़ों, एक छोटे और दूसरे बड़े, की तुलना की जा सकती है। अगर किसी बड़े कमरे में छोटी रोशनी हो तो कमरे की चीज़ों को देखने के लिए उस रोशनी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाना पड़ेगा। लेकिन इस छोटी रोशनी की जगह अधिक प्रकाश वाला कोई लैम्प हो तो उससे फैलने या निकलने वाली किरनियाँ उस कमरे को प्रकाशित करने के लिए काफ़ी होंगी। उसको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की ज़रूरत न होगी।

९४—अथवा सूर्य का दृष्टान्त लीजिये। यह प्रकाश का एक विशाल केन्द्र है, लेकिन पृथ्वी का काम इसकी विकीर्ण या भास रूप में फैली हुई रोशनी से ही चल जाता है। उस भास रूप में फैली हुई रोशनी को थोड़ी सी जगह में इकट्ठा किया जावे तो एक बड़ा केन्द्र बन सकता है।

९५—सन्तों का भास रूपी चैतन्य बहुत कुछ उसी तरह से काम करता है जिस तरह कि एक मामूली आदमी की चैतन्यता शरीर में काम करती है। सन्त भी निन्द्रा की अवस्था में जाते हैं, स्वप्न अवस्था में जाते हैं और बेहोशी की हालत भी उन पर तारी होती है। लेकिन ये सब अवस्थाएँ उनके शरीर पर व्यापती हैं जिसकी संभाल उनके भास से होती है। उनका ऊपर का घाट या केन्द्र सदा प्रकाशित और चेतन रहता है। उनके स्थूल शरीर में साधारण मनुष्य की ही भांति क्षोभ और कामनायें उत्पन्न होती हैं। लेकिन फ़र्क़ यह है कि उनमें चैतन्य धार सदा जागरूक है और वही नीचे के घाट पर स्थूल रूप की क्रियाओं पर ग़ालिब रहती है। उदाहरणार्थ, काम अंग उनमें मालूम होगा मगर वह कभी उन पर हावी या प्रधान होने न पावेगा। कभी वह बहुत गुस्सा भी करेंगे लेकिन फ़ौरन ही वह ग़ायब भी हो जावेगा और एक क्षण बाद ही वह हिमालय की तरह शान्त मालूम होंगे। जीवन के साधारण कामों और व्यवहारों में वे मनुष्य के घाट से ही बोलते हैं। उस समय उस घाट पर जो स्थिति या

बैठक की अवस्था है, उसमें ऊपर के घाट या केन्द्र का सर्व व्यापी ज्ञान नहीं होता। इसलिये अगर वे कोई ऐसी बात कहें जो ऊपर के मुक़ाम या घाट के ज्ञान के विपरीत या विरुद्ध मालूम हो तो इसका यह मतलब नहीं है वे झूठ बोलते हैं। मिसाल के तौर पर, कोई आदमी चुपके से उनके पीछे आवे तो मनुष्य के घाट पर जो उनकी चेतनता है, वह उस नए आने वाले को नहीं देखती और इसलिए वे कहते हैं कि वहाँ कोई नहीं है। ऊँचे के घाट पर जो उनकी चेतनता है, वह सही बात को जानती है। इसलिये सही बात के ख़िलाफ़ कहने पर भी नीचे के घाट की व्यक्ति झूठ नहीं बोलती। नीचे के घाट पर जो ज्ञान है, उसके हिसाब से वह कहते हैं और वह ठीक है।

९६—मृत्यु के समय महात्मा की सुरत अलग होकर पूरे होश के साथ अपने शरीर की मृत्यु होते हुए देख सकती है। महात्मा शरीर के घाट से बिल्कुल जुदा घाट पर हैं। शरीर को जो कष्ट व्यापता है, उसका उन पर कोई असर नहीं होता। क्योंकि मृत्यु समय की ऐंठन सिर्फ़ भास रूपी फैले हुए चैतन्य पर होती है। महात्मा के शरीर की मृत्यु के समय देखने वालों को यही मालूम होगा कि जैसे मामूली आदमी की मृत्यु में भांज और ऐंठन होती है, वैसी ही उनके शरीर पर भी हुई क्योंकि माद्दे या द्रव्य का यह गुण या स्वभाव है कि वह जाने वाली या निकलने वाली सुरत से चिमटता और चिपटता है क्योंकि वही तो उसकी जान है और इसीलिए मृत्यु के समय भाँज और

ऐंठन होती है। बाहर से देखने वालों को महात्मा और मामूली जीव दोनों की मृत्यु में एक सी ही ऐंठन और भांज मालूम होगी। लेकिन महात्मा बाहोश और सज्ञान है और इन ऐंठन और भाँज से परे और अछूता है।

६७—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह भी समझ में आवेगा कि ऊँचे दरजे के महात्मा लोग करामातें क्यों नहीं दिखलाते। यह सत्य है कि अलौकिक कार्यों या मोजज़ों के लिए वे अपनी सामान्य या साधारण चैतन्यता को ऊपर के मुक़ाम से अधिक मात्रा में चैतन्य धार भेज कर बढ़ा सकते हैं। लेकिन ऐसा करने में यह हानि होती है कि बार २ ऊँचे घाट की चैतन्य धार को शरीर में भेजने से शरीर को हानि होगी, उसी तरह जिस तरह कि अधिक वोल्टेज की बिजली की करंट किसी ऐसे तार में भेजी जावे जो उसके लिए उपयुक्त नहीं है तो उससे तार पिघल जावेगा क्योंकि बिना तोड़ फोड़ हुए बिजली की एक सीमित मात्रा ही उस तार में प्रवाहित हो सकती है।

६८—अंतर्द्धान होने के दिन स्वामीजी महाराज ने अपने सेवकों से फ़रमाया था कि मेरी सुरत तो राधास्वामी धाम में राधास्वामी दयाल की गोद में पहुँच चुकी है और कई दिनों से वहीं है मगर तुम लोगों से कुछ कहने को उतर आए हैं। इसका मतलब यह है कि अपनी सुरत की नशिस्त या बैठक राधास्वामी धाम में ले जाने पर भी उसका भास या सामान्य (फैला हुआ) चैतन्य इतना ताक़तवर था कि वह शरीर की संभाल उसी तरह करता

था जिस तरह कि मामूली जीव की कुल चैतन्यता उसके शरीर की संभाल करती है।

९९—ऊपर वर्णन की हुई शक्ति केवल सायुज्य संतों को प्राप्त होती है यानी उन संतों को जो ऊपर के धनी से एकाकार हो जाते हैं या उससे एकत्व प्राप्त कर लेते हैं। सत्तदेश के अन्य बासियों की अंतरगत चैतन्यता तो उसी प्रकार की होती है, किंतु उनकी क्रियाशील चैतन्यता इतनी उच्च नहीं होती। सायुज्य संतों की, पुरुष की काया के कोषाणुओं से उपमा दी जा सकती है। लेकिन इस उपमा को ज्यादा खींचना नहीं चाहिए। अगर इसका उचित रीति से प्रयोग किया जावे तो जो बात कही गई है, उसका कुछ अनुमान हो सकता है।

१००—अब यह भली भाँति समझ में आ जाना चाहिए कि भास रूपी चैतन्य के द्वारा जो सत्तदेश में फैला हुआ है, वहां के बासियों को वहाँ की रचना का ज्ञान प्राप्त है।

१०१—मगर फिर भी इतना कहा जा सकता है जिस प्रकार सत्तदेश के भिन्न २ लोकों की चैतन्यता भिन्न २ कोटि की है, उसी प्रकार उन लोकों में जो भास रूपी चैतन्य फैला हुआ है, वह भी अलग २ दरजे का है। और कम तीव्रता वाला भास रूपी चैतन्य ज्ञान प्राप्ति में एक प्रकार की सूक्ष्म मुख़ालिफ़त या विरोध उपस्थित करता है। इसलिये सत्तदेश के किसी निचले लोक के वासियों को वह सर्व व्यापी और पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं है जो कि

सत्तदेश के ऊपर वाले भागों के वासियों को प्राप्त है। मुख़ालिफ़त या विरोध से मतलब उस मुख़ालिफ़त या विरोध से नहीं है जो पिंड और ब्रह्मांड में मन और माया के होने से पाया जाता है। कहने का मुद्दआ यह है कि चैतन्य शक्ति या आकर्षण में कमोबेशी का फ़र्क़ है। पुरुष की ओर जो जितना खिचा उस हिसाब से उसकी शक्ति या चैतन्यता का माप किया जाता है। भिन्न २ श्रेणी की सुरतें पुरुष की ओर भिन्न २ दरजे में आकर्षित हुईं और हर एक को अलग २ उचित स्थान मिलता गया।

१०२—अनामी पुरुष और रचना का पूरा २ ज्ञान केवल परम हंस सुरतों को प्राप्त है जिनका मेल राधास्वामी दयाल से सायुज्य अवस्था में है। लेकिन सत्तदेश के अन्य वासियों को जो अनामी पुरुष और रचना के विभिन्न धनियों या मालिकों द्वारा संचालित लोकों का ज्ञान प्राप्त है, वह ज़रा कम दरजे का है। सत्तदेश में कई श्रेणियों और दरजों की सुरतें कही गई हैं। उससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि उनमें कोई अशुद्धि है। हर श्रेणी और दरजे की सुरतों का जौहर वही शुद्ध चैतन्य है। लेकिन अलग २ सुरतों में चैतन्य शक्ति की मात्रा अलग २ है। उदाहरणार्थ, भिन्न २ तीव्रता की रोशनी की बत्तियों को किसी भारी रोशनी के सम्मुख लाया जावे तो विशेष शक्ति वाली रोशनियाँ बहुत निकट आने पर भी अलग पहचानी जा सकेंगी; इसके विपरीत कमज़ोर रोशनियाँ पहचानने में न आवेंगी, यद्यपि रोशनी सब बत्तियों में एक ही क़िस्म की है।

१०३—सत्तादेश के निचले भागों में जो आनंद है, वह वहाँ की बासी सुरतों को उसी प्रकार तृप्त और संतुष्ठ किए हुए है जिस प्रकार कि ऊपर के भागों के बासी ऊपर के आनंद से संतुष्ठ हैं। यहाँ ऐसी दशा है कि जिस वस्तु से हमें प्रेम या अनुराग है, उसे हम अकेले ही अपने अधिकार में करना चाहते हैं। किंतु सत्तादेश के प्रेम में ऐसी बात नहीं है। अनंत भक्तों के प्रेम को संतुष्ठ करने की शक्ति कुल्ल-मालिक में है। वह प्रेम का अथाह सागर है।

१०४— इस घाट पर ख़याल की गति बड़ी तेज़ है। ज्योंही हम न्यूयार्क नगर का ख़याल करते हैं, हम वहाँ ख़याल से मौजूद हैं। लेकिन हमारे ख़याल में जो चीजें आती हैं, वे वर्तमान घटनाओं की नहीं होतीं, बल्कि पहले की देखी और जानी हुई होती हैं। हम न्यूयार्क नगर में इस समय घटित होती हुई किसी घटना से संबंध नहीं जोड़ सकते हैं अर्थात् हम अपनी सुरत अथवा चेतना के किसी अंश या अंग को वहाँ नहीं भेज सकते हैं कि वह वहाँ जाकर वहाँ की मौजूदा घटनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करे। यदि ऐसा कर सकने के लिए हमारी चैतन्यता उतनी ही प्रबल होती है जितनी कि हाथ या पैर के संबंध में है तो इस समय वहाँ क्या हो रहा है, उसे हम प्रत्यक्ष देख सकते। हमारा ख़याल चैतन्य प्रकाश से देदीप्यमान हो जाता और दूरी या फ़ासले का लोप हो जाता। सत्तदेश के बासियों को भी कुछ इसी प्रकार से ज्ञान प्राप्ति

या बोध होता है। समझाने के लिये ख़याल का उदाहरण दिया गया है वरना सुरत की चैतन्य शक्ति के सामने ख़याल एक निहायत ही भोंडा औज़ार और साधन है।

१०५—मेस्मेरिज़म की सी हालत में स्थूल आँखों से दिखलाई न देने वाली वस्तुओं को देखने वाले व्यक्तियों को ऊपर बयान की हुई रीति से ज्ञान नहीं होता है। दूर की बातों या चीज़ों का जो ज्ञान उनको होता है, वह भास रूप में फैले हुए चैतन्य द्वारा नहीं होता है। उनको यह ज्ञान अपनी सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। भौतिक या स्थूल इन्द्रियों की क्रियाओं को बन्द कर देने पर उनकी सूक्ष्म इन्द्रियाँ क्रियाशील हो जाती हैं और स्थूल इन्द्रियों का जो क्षेत्र है, उससे अधिक विस्तृत क्षेत्र में ये सूक्ष्म इन्द्रियाँ कुछ सही कुछ ग़लत तौर पर काम करने लगती हैं। ये सूक्ष्म इन्द्रियाँ सूक्ष्म द्रव्यों से निर्मित होती हैं और उनकी स्थूल इन्द्रियों से समानता है यानी वे स्थूल इन्द्रियों की नक़ल हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि उन पर पूरा अधिकार हो। नियन्त्रण की मात्रा में अनेक श्रेणियाँ हैं। कभी वे सही तरीके पर काम करती हैं, कभी ग़लत। कभी २ अपनी चेतना के अन्तर्गत उपस्थित वस्तुओं को ही वह दूरस्थ वस्तुएँ कहते हैं। इसलिये उनके वर्णनों की यथार्थता में कई श्रेणियाँ हैं अर्थात् उनमें सत्य की मात्रा भिन्न २ होती है। लेकिन उनको असत्य कह कर उनका तिरिस्कार करना भी ग़लती है और जो कुछ वह कहते हैं, उस पर पूरा २ विश्वास कर लेना भी ग़लती है।

१०६—सूक्ष्म इन्द्रियों में भी बहुत से दरजे हैं। ब्रह्मांड की ज्ञानेन्द्रियाँ अति सूक्ष्म द्रव्य की बनी हुई हैं और इसी कारण बहुत काल तक बनी रहती हैं। बहुत सी ब्रह्मांड की पूरी अवधि तक क़ायम रहती हैं।

१०७—जैसा कि कहा जा चुका है, सुरत को अपने से नीचे घाटों के मन और माया (द्रव्य या पदार्थों) से संबंध स्थापित करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है। जब सुरत ब्रह्मांड के पार चली जाती है, तब सिवा चैतन्य के अन्य द्रव्य की बनी हुई इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं रहती क्योंकि चैतन्यमय काया स्वयं ज्ञानमय होती है और चारों ओर की रचना में भी ज्ञानमय चैतन्य ही है।

१०८—साधारण बोलचाल से हम कह सकते हैं कि सत्तदेश के बासियों में भी हम जैसा अहसास है। वे चैतन्यरूप हैं। वे चैतन्य के माध्यम द्वारा बोलते हैं। सभी, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित हैं और प्रयोग में लाई जाती हैं। वे चैतन्य अहार भी लेते हैं। जिस प्रकार इस घाट पर शरीर में एक द्रव्यमय धार प्रवाहित हो रही है जिससे कि शरीर का पालन पोषण होता है, उसी प्रकार सत्तदेश के वासियों की काया का पालन पोषण चैतन्य धार द्वारा होता है जिसे अमृत कहते हैं और जो उस मण्डल के धनी से आती और निसृत होती है यानी राधास्वामी पद में राधास्वामी दयाल से, अगम लोक में अगम पुरुष से, इत्यादि।

१०९—नीचे के लोकों में भी एक धार प्रवाहित हो रही है जो उस लोक के अधिवासियों की चैतन्यता के

मुक़ाबले में अधिक निर्मल और चैतन्यमय है। ब्रह्मांड से पिंड में एक धार आ रही है जो शुद्ध या निर्मल चैतन्य की तो नहीं है, किन्तु पिंड से अपेक्षाकृत अधिक निर्मल है। उस धार के सम्पर्क में आने से मृत्यु के स्थान से ऊपर जाना मुमकिन है।

११०—ज्ञान-प्राप्ति की सीमा या हदबंदी के लिहाज से ऊपर और नीचे के लोकों में क्या सम्बन्ध है, वह नीचे दी हुई मोटी मिसाल से कुछ कुछ समझ में आ सकता है। एक टिड्डे के ज्ञान-क्षेत्र का विचार कीजिये। मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र की तुलना में यह कितना सीमित है। और भी खयाल कीजिये कि एक आदमी किसी कमरे में बैठा हुआ है। दीवार के बाहर की वस्तुओं को वह नहीं देख सकता। लेकिन अगर उसको लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई वाले त्रिविध क्षेत्र के तीन परिमाणों या विस्तारों के परे चतुर्थ परिमाण या विस्तार का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति दे दी जावे तो उसके लिये माद्दी चीजें कोई प्रतिबन्ध या रुकावट हायल न कर सकेंगी। उसके लिये दीवारें मानों ग़ायब हो जावेंगी और दीवारों से बाहर की वस्तुओं को भी वह देख सकेगा।

१११—वसअत, दूरी और फ़ासले इत्यादि से कोई मनुष्य क्या समझता है, यह बात इस पर मुनहसर है कि भिन्न २ परिस्थितियों में उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ जो २ ज्ञान और खबरें पहुँचाती हैं, वह उनमें किस प्रकार मिलान और तुलना करता है। एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान

पर पहुँचने में जो समय लगता है, उसके हिसाब से मनुष्य दूरी और फासले का अनुमान करता है। लेकिन अगर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की रफ़्तार या गति वेग बदल दिया जावे तो दूरी और फ़ासले की धारणा में फ़र्क आ जावेगा। रोशनी एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील चलती है। इतनी तीव्र रोशनी की गति है। फिर भी बड़ी २ दूर के फ़ासलों को नापने में मील की गणना छोड़ कर उसकी जगह 'प्रकाश वर्ष' रक्खा गया है। हमारा ख़याल इससे भी ज्यादा तेज है। दूर से दूर की वस्तुओं तक पहुँचने मे हमारे ख़याल को जाहिरा कोई समय नहीं लगता। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि हमारे ख़यालों की मशीन अपेक्षाकृत स्थूल और मोटी है। ब्रह्मांड की ख़याल रूपी मशीन अधिक सूक्ष्म है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की भौतिक या स्थूल सवारी की जगह अगर ख़याली मशीन का उपयोग किया जा सके तो नतीजा यह होगा कि ज्योंही किसी ने किसी स्थान का ख़याल किया कि तुरन्त साथ ही साथ वहाँ पहुँच भी जायगा और वहाँ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। उस हालत में हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र कितना बड़ा हो जावेगा और वसअत, समय और दूरी की धारणा में कितना अतुल परिवर्तन हो जावेगा।

११२—ऊपर जो कहा गया है, उससे कुछ मोटे तौर पर अनुमान किया जा सकता है कि ज्यों २ ऊपर के लोकों में गति प्राप्त होती जाती है और एक एक करके यहाँ के कपाट, रुकावटें और प्रतिबन्ध दूर होते जाते हैं, किस

प्रकार ज्ञान की तौसीअ या फैलाव होता जाता है। ऊपर चतुर्थ परिमाण या विस्तार के ज्ञान के विषय में कहा गया था। उसका मतलब यह है कि ठोस द्रव्य या माद्दे की रुकावट या प्रतिबंध हट गया यानी ज्ञान प्राप्ति में एक रुकावट पर विजय प्राप्त कर ली गई। इसी प्रकार बहुत से प्रतिबंध हटते जाते हैं और प्रत्यक्ष ज्ञान का हलक़ा बढ़ता जाता है। मनुष्य की अपेक्षा ब्रह्मांड के अधिवासी का ज्ञान क्षेत्र असीमित और अपार मालूम होता है। ज्यों २ ऊपर जाते है, यह फ़र्क बढ़ता जाता है।

११३—सत्तदेश में जो ज्ञान प्राप्त है और जिसे कभी कभी संतों का आनन्द या विलास करके भी बयान किया गया है, वह वहाँ की ज्ञान शक्तियों को ऊँचे से ऊँचे और तेज़ से तेज़ कार्रवाई से उत्पन्न होता है। वह उत्तेजना या जोश की अत्यन्त अवस्था है यानी ज्ञान की अत्यन्त तीव्र अवस्था है। वहाँ के आनन्द को अनन्त कहा है। इसका यह मतलब है कि आनन्द प्राप्ति के साधन असंख्य हैं। अत्यन्त सुन्दर रूप दिखाई पड़ते हैं क्योंकि जिस क़दर जीवन का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा होता जाता है, रूपों पर सुरत चैतन्य का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जाता है और सुन्दरता बढ़ती जाती है। पशुओं के रूप से मनुष्यों के रूप अधिक सुन्दर और आकर्षक हैं। तथा निर्मल चैतन्य देश के रूप सबसे ज़्यादा खूबसूरत हैं। अत्यंत चित्ताकर्षक स्वर और संगीत सुनाई देते हैं। सत्यदेश का प्रत्येक वासी अपनी २ ख़ास ख़ुशगवार आवाज़ निकाल रहा है।

प्रत्येक की अपनी २ धुन है। लेकिन अपने मण्डल के धनी के शब्द के साथ सब की आवाजें और धुनें मिली हुईं यानी एक-सुर है। अन्य ज्ञानों की भी यही कैफ़ियत है। हर एक ज्ञान अत्यंत उच्च और शुद्ध रूप में सम्पूर्ण अंग में काम कर रहा है। मण्डल के धनी से निरन्तर प्रवाहित रहने वाली चैतन्य धार से वहाँ की चैतन्य देहों को चैतन्य आहार और पोषण मिलता है। उसी धार के प्रवाह से ज्ञान की अत्यन्त तीव्र अवस्था प्राप्त है जिससे अत्यंत रस और आनन्द प्राप्त हैं।

११४—इस घाट और लोक में हम चाहते हैं कि रस और मज़ा हासिल करने की कैफ़ियत और हालत बराबर बदलती रहे, हर रोज़ नया प्रोग्राम बनता रहे, वरना अगर एक सी ही हालत बनी रहे तो उसमें कोई रस और मज़ा न मिलेगा। सदा एक सी हालत बनी रहने में जो उकलाहट होती है, वह किसी दूसरी चीज में नहीं होती। सभी वस्तुएँ इतनी अपूर्ण और दोषपूर्ण हैं कि हम एक से ऊब कर कोई दूसरी चाहने लगते हैं। लेकिन अगर ज्ञान और रस की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो तो बदलने की ज़रूरत नहीं महसूस होगी। एक ही प्रोग्राम या कार्यक्रम सदा चल सकता है।

११५—जितनी ख़ुशियाँ और मज़े तुम जानते हो, सबको इकट्ठा करो। यहाँ के मसाले के बने हुए औजारों या इन्द्रियों में जो मलीनता और त्रुटियां हैं, उनको निकाल दो। मान लो कि उन ख़ुशियों और मज़ों में कोई कमी

नहीं है । इसलिये वे बासी या नीरस नहीं होते । इसलिये बदलने की भी ज़रूरत नहीं महसूस होती । ख़याल करो कि वे ख़ुशियाँ और मज़े और आनन्द तुमको हमेशा प्राप्त हैं और रहेंगे । अब और क्या चाहोगे ?

११६—हम उत्तेजना के इच्छुक हैं, लेकिन ग़ौर करो तो ज्ञान की तीव्रता और प्रचंडता ही तो उत्तेजना और जोश है । हमें जो औज़ार या इन्द्रियाँ प्राप्त हैं वे जड़, मन्द और कुण्ठित हैं । इसलिये उनके ज़रिये जो ज्ञान प्राप्त होते हैं, वे भी मंद और रूखे होते हैं । जिस देश में औज़ारों और इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है, वहाँ का ज्ञान सत्य और असली ज्ञान है और वह अविलंब प्राप्त होता है । वह उत्तेजना और जोश की सबसे बढ़ कर दशा है । रस और मज़ा लेते लेते बे-रस और बे-मज़ा हो जाने का कारण मल और गन्दगी का मौजूद होना है । यह क़ायदा पक्का है कि मलयुक्त, रस और मज़ा हमेशा नहीं रह सकता । अगर ऐसा न होता तो बराबर और हमेशा के लिए उतार हो जाता क्योंकि जब ऐसा तेज़ लुत्फ़ या ख़ुशी हासिल नहीं होती तो असंतुष्ट होकर हम और अधिक स्थूल और मलीन माद्दे में रस और मज़ा ढूँढने लगते हैं और यही कारण और भी नीचे उतार होने का होता है ।

११७ – दुनियाँ के आलिमों में यह आम ग़लती पाई जाती है कि वे मानसिक क्रियाओं और अवस्थाओं को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व देते हैं और ज्ञान शक्तियों को

तुच्छ समझते हैं और हिक़ारत की निगाह से देखते हैं। अन्तर में उत्पन्न होने वाले उच्च और मनोहर भावों और अवस्थाओं का विश्लेषण करके उनकी परीक्षा की जावे तो मालूम होगा कि वे अधिकांश में वही ज्ञान हैं जो ज्ञानवाह क्रिया द्वारा प्राप्त होते हैं अथवा उनके सदृश ही अन्तर में प्राप्त होने वाले ज्ञान हैं।

११८—ज्ञानवाह क्रिया को सिर्फ़ इसीलिए स्थूल या माद्दी ख़याल करना कि वह इस स्थूल या माद्दी घाट पर काम करती है, ग़लती है। माद्दे या द्रव्य का ज्ञान, सुरत सीधे बे-रोकटोक नहीं प्राप्त कर सकती है। इसलिये सुरत के लिए ज्ञान-प्राप्ति के औज़ारों या इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करके उन्हें चेतन करना ज़रूरी है। चूँकि ये औज़ार और इन्द्रियाँ माद्दी और भौतिक व स्थूल वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निर्मित हुई हैं, इसलिये ये औज़ार और इन्द्रियाँ भी वैसे ही स्थूल और नाशवान माद्दे या द्रव्य की ही बनी हुई होनी चाहिए। लेकिन इससे यह नहीं ख़याल करना चाहिए कि स्वयं ज्ञानात्मक कार्य भी स्थूल और नाशवान है। अपने घाट पर जहाँ कि बग़ैर किसी की मदद के सुरत स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकती है, ज्ञानात्मक कार्य यानी उससे प्राप्त ज्ञान अनन्त शुद्ध और निर्मल और उन्नत है, जिसका कि हम कोई अनुमान नहीं कर सकते। ज्ञान प्राप्ति का कार्य सुरत का अपना निजी है। ज्ञान प्राप्ति इस बात की सूचक है कि ज्ञाता स्वयं चैतन्य है। चूँकि ज्ञानवाह कार्य या ज्ञान प्राप्ति का कार्य सुरत की चेष्टा है, इसलिये यह अवश्यमेव उन्नत होना चाहिए।

११९—लेकिन सत्तदेश में सबसे प्रबल प्रेम है। वास्तव में सुरत का जौहर ही प्रेम है। सुरत का पूर्ण अस्तित्व ही प्रेम की पूर्णता है। इस घाट पर हम इसको ठीक तौर से नहीं समझ सकते। यहाँ प्रेम का केवल धुंधला और अपूर्ण इज़हार ही मुमकिन है। यहाँ एक सुरत का दूसरी सुरत से कोई सीधा रिश्ता नहीं हो सकता। बाहर किसी बात का इज़हार करने के लिए सुरत स्थूल मसाले के बने हुए औजारों या इन्द्रियों की मोहताज है। अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों में जो परस्पर स्नेह पाया जाता है, वह आकर्षण या प्रेम की केवल अति तुच्छ धारें हैं और फिर भी जैसा तैसा कि प्रेम हम लोग करते हैं, वही हमारी बड़ी भारी ख़ुशी का स्रोत है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि सत्तदेश के वासियों के पारस्परिक प्रेम से क्या भारी आनन्द प्राप्त होता होगा जब कि उनका स्वभाव ही प्रेम है और वे बिना किसी बाधा या रुकावट के, सीधे, प्रेम करने की क्षमता रखते हैं।

१२०—कुल्ल चैतन्य मण्डलों में प्रेम की लहरों पर लहरें उमँड़ रही हैं जिनका जवाब हर तरफ़ से और एक साथ मिलता है। जैसा कि कहा गया है, वे अनामी पुरुष के प्राण हैं। सुरत, बाहर निकलने वाला स्वांस है। वहाँ के सब बासी एक साथ आँस भरते हैं। वहाँ सब सुरतें एक साथ महसूस करती हैं। एक ही लहर और प्रेरणा सब में उठती है। वहाँ कोई मुख़ालिफ़त या विरोध और द्वेष और किसी से कुछ छिपाने की ज़रूरत नहीं है। न वहाँ प्रति-

स्पर्द्धा और प्रतियोगिता है क्योंकि प्रीतम यानी पुरुष हर एक को पूर्णतया संतुष्ट और शान्त किए हुए हैं।

१२१—वहाँ के वासी सब यकसाँ हैं या भिन्न २ हैं, इसका उत्तर यह है कि वहाँ नाना प्रकार के रूप और नाना प्रकार की छवियाँ और नाना प्रकार की शोभा है।

प्रकरण १६

अनन्तता का बोध

१२२—सत्तदेश के सबसे ऊपर के मंडल की वासी सुरतों और नीचे के लोकों में बसने वाले जीवों के बोध या विचार में कि 'जीवन' तथा 'सत्ता' क्या है, भारी अन्तर है। वह नहीं जानते कि असीम और अनंत क्या है क्योंकि उनको सब का ज्ञान प्राप्त है और हो सकता है।

१२३—जिस दायरे या हलक़े में ज्ञान प्राप्त करने की मन को शक्ति प्राप्त है उसके बाहर की किसी बात के समझने या ज्ञान प्राप्त करने की ना-क़ाबलियत से जो कमी का अनुभव होता है, वही अनंतता का बोध है। ज्ञान प्राप्ति में जो रुकावटें होती हैं, उनको क्षेत्र परिमाण अथवा मन और मानसिक शक्तियों का ऊँचा नीचा दरजा कहा जाता है। ज्यों २ क्षेत्र परिमाणों या रुकावटों को हटाते जाते हैं, अनंतता के बोध का लोप होता जाता है। हर घाट का अलग २ क्षेत्र परिमाण अथवा रोक है। जिस घाट पर होश हवास क़ायम रखते हुए ठहरने की योग्यता प्राप्त हुई, उसके नीचे के सब घाटों के क्षेत्र परिमाण या

क़पाट गोया दूर हो गए और नीचे की रचना परिमित हो गई। लेकिन ऊपर की रचना के क्षेत्र परिमाण या रुकावटें अभी बाक़ी हैं, इसलिए ऊपर की रचना अनंत और अपरिमित है। जब सब कपाट तोड़ कर सुरत राधास्वामी धाम में पहुँचेगी, तब सब का ज्ञान प्राप्त हो जावेगा और अनंतता का सर्वथा लोप हो जावेगा।

१२४—इस घाट पर हम त्रिविध क्षेत्र परिमाणों की रुकावटों को पार कर गये हैं। हमसे नीचे के घाटों पर जो कुछ है, वह हमारे ज्ञान के भीतर है। जहाँ से चतुर्थ परिमाण या विस्तार का आरम्भ होता है, वहीं से हमारे लिए अनन्तता शुरू होती है। हम कारण कार्य और वक़्त से बँधे हुए है क्योंकि हमारे मन पर और हमारी मानसिक शक्तियों पर ये तीन प्रतिबंध लगे हुए हैं।

१२५—प्रतिबंधों के लगे हुए होने से हम अपने ऊपर के घाटों या लोकों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। हम यह जानते हैं कि ऊपर के घाटों को फ़तह करने की क़ाबलियत हममें नहीं है। यही अहसास, प्रतिबंध या रुकावट है। जिसको ऊपर गति प्राप्त हो गई है, उसके लिये जो पहले ऊपर था अब नीचे हो गया, ज्ञान गोचर हो गया। तब उसे अपनी पूर्व अज्ञानता पर हँसी आती है। इस प्रकार अनन्त रचना या घाट एक के बाद एक ज्ञान क्षेत्र के अन्दर चले आते हैं यहाँ तक कि होते होते ज्ञान और आनन्द और प्रेम की मुतलक़ अवस्था प्राप्त हो जाती है यानी केवल ज्ञान ही ज्ञान और आनंद ही आनन्द

और प्रेम ही प्रेम रह जाता है। तब चूँकि सर्वज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसलिए अनंतता का भाव बाकी नहीं रह सकता क्योंकि अगर रहे तो उसका यह मतलब होगा कि कोई रुकावट या अज्ञात वस्तु अभी मौजूद है। अनंतता का बोध परिलक्षित करता है कि असमर्थता और अयोग्यता मौजूद है।

१२६—चैतन्य तो सदा से ही ज्ञानमय था और ज्ञान मय ही रहेगा। हम लोग ऐसी जगह पर हैं जहाँ सब चीजों की आदि है और सब का अन्त होता है। इसलिये हम उस ज्ञानमय चैतन्य अवस्था का अनुमान नहीं कर सकते। हम सिर्फ इतना कर सकते हैं कि अपने ज्ञान के प्रतिबंधों को हटाते जावें। यदि हम भूत भविष्य और वर्तमान को ऐक साथ जान सकें तो कुछ २ पता चलेगा कि अनन्त ज्ञान से क्या अभिप्राय है। लेकिन जहाँ तक रचना का सम्बन्ध है, आदि और अन्त हमारे अनंतता के ज्ञान के साथ लगा हुआ है। एक समय था जब कि कोई रचना नहीं हुई थी। रचना आरम्भ हुई। किसी अंश में इसका अन्त होगा। किसी अंश में इसका अन्त न होगा।

१२७—क्या राधास्वामी धाम के बासी भी स्वयं अनंत और अपार हैं, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि कोई वस्तु उनके चैतन्य ज्ञान के बाहर नहीं है। ऐसी वस्तु व्यर्थ ही होती। इस मानी में उनका ज्ञान अनन्त और अपार है। जहां कहीं भी कुछ है, उनको सब ख़बर है। वक्त और वसअत यानी दूरी और फ़ासले का उन पर

कोई प्रतिबंध नहीं है। बगैर वक्त और वसअत की रुकावट के उनको तात्कालिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस अर्थ में राधास्वामी दयाल और वे महान सुरतें जो उनसे सायुज्य अवस्था में हैं, सब अनन्त और अपार हैं। सायुज्य अवस्था से यह मतलब है कि उनको राधास्वामी दयाल से क़रीब-क़रीब एकत्व या एकेता प्राप्त है। क़रीब २ इसलिये कहा कि उन सुरतों को अपना २ अलेहदा ज्ञान और होश फिर भी क़ायम है। यह उसी तरह है जिस तरह कि शरीर के कोषाणु शरीर के साथ मिल कर शरीर से एक हो रहे हैं, परन्तु उन कोषाणुओं की अपनी अलग व्यक्ति फिर भी क़ायम है। शरीर और शरीर के कोषाणुओं में जो सम्मिलन या ऐक्य है, उससे कहीं ज्यादा ऐक्य यानी यक़ताई उन सुरतों और राधास्वामी दयाल में स्थापित है। इन सुरतों का ज्ञान राधास्वामी दयाल के ज्ञान से युगपत अवस्था में है। उनको अनामी पुरुष का भी ज्ञान है। अगर उनको अभिलाषा हो तो वे अनामी पुरुष में खिच सकते हैं। हाँ, ऐसा करने में वे शब्द की डोरी पीछे छोड़ जाते हैं ताकि वापस लौट सकें और हमेशा के लिए अनामी पुरुष में न समा जावें। यह उसी तरह से है जिस तरह कि कोई जीव भौतिक यानी स्थूल शरीर को छोड़ना चाहे, मगर फिर वापस उस शरीर में आना मंजूर हो तो शरीर छोड़ते वक़्त सूक्ष्म सा सूत या नाता क़ायम रखता है जिससे शरीर की मृत्यु नहीं होने पाती और उस सूत के ज़रिये वह शरीर में वापस आ सकता है। इसी तरह सुरत अनामी पुरुष में समा कर वापस आ सकती है और अपना अलेहदा वजूद सुरक्षित रख सकती है।

प्रकरण २०

ऊँचे देश की बासी सुरतों को नीचे की रचना के विकास क्रम में कभी नहीं गुज़रना पड़ा

१२८—ऊपर जिन महान सुरतों के बारे में कहा गया है, उनको नीचे के लोकों की रचना के विकास क्रम में आने की कभी भी ज़रूरत नहीं पड़ी है। जहाँ वे अब अवस्थित हैं, वहाँ वे सदैव मौजूद थीं। किन्तु जब नीचे की रचना को नवीन चेतनता प्रदान करने की आवश्यकता हुई, तब वे महान सुरतें नीचे आती रहीं हैं। जैसे २ समय व्यतीत होता जाता है, नीचे की रचना का बुढ़ापा आता जाता है मानो उसका यौवन और कोमलता नष्ट होने लगती है और ऐसी हालत पहुँच जाती है जब पर्याप्त सुख की अवस्था पैदा करने को वह असमर्थ हो जाती है। फिर इस बात की जरूरत होती है कि चैतन्य शक्ति की एक ताजा और नवीन लहर यहाँ आवे जिससे जीवन दान प्राप्त हो। इस अवस्था की पराकाष्टा उस समय पहुँचती है जब कि नीचे की रचना का हर एक मण्डल, सत्तदेश की युति की सीमा के भीतर यानी सत्तदेश के सन्मुख आता है। और तब राधास्वामी दयाल से सायुज्य अवस्था प्राप्त कोई महान सुरत (जिसे उनका ख़ास पुत्र और निज अंस कह सकते हैं) ख़ुद-ब-ख़ुद अपनी ख़ुशी से उस नीचे के देश में उतर कर आती है। वह एक शक्तिशाली सुरत

होती है और उसके साथ चैतन्य शक्ति की एक ज़बरदस्त लहर नीचे उतर आती है और यहाँ की रचना को फिर चेतन कर देती है। यह सन्त सतगुरु का अवतार है।

प्रकरण २१

नीचे के लोकों के बंधन सत्तदेश में नहीं ले जाए जा सकते हैं

१२९—नीचे के लोकों से सत्तदेश में जाने वाली सुरतों को वहाँ पहुँचने से पहले, बीच के लोकों में, नीचे के लोकों के जीवन की घटनाओं की याद आ सकती है, लेकिन उसमें कोई दिलचस्पी बाक़ी नहीं रहती क्योंकि पिछले जीवन ज्यादातर शारीरिक और मानसिक थे जो शरीर और मन के छूटने पर आप ही आप ग़ायब हो गए। अपने पूर्व जीवन की क्रियाएँ उस सुरत को ऐसी मालूम होती हैं मानो वे किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध रखती हों, उससे नहीं।

१३०—नीचे के लोकों के बन्धन अगर सत्तदेश में ले जाएँ तो इसके मानी यह होंगे कि सत्तदेश में कमी और ख़ामी है। वास्तव में वे पहले के सम्बन्ध और बंधन सब खत्म हो जाते हैं और उनकी जगह सर्वालिङ्गनकारी सत्य प्रेम पैदा हो जाता है। आपा या अपनपौ नाम मात्र भी बाक़ी नहीं रहता। इसलिए प्रत्येक सत्तदेश का बासी अन्य सब बासियों से उसी प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार कि वह स्वयं अपने से प्रेम करता है। इसके अतिरिक्त अगर

नीचे के लोकों के जीवन सम्बन्ध और ताल्लुक़ात वहाँ ले जाए भी जा सकें तो उनका निबाहना ना-मुमकिन होगा क्योंकि नीचे के लोकों में अगणित ऊँचे नीचे जीवन व्यतीत हुए हैं, लेकिन सत्तदेश तो केवल एक ही है।

प्रकरण २२

पुनर्जन्म में विश्वास न करने वाले मनुष्यों की मृत्यु के बाद की दशा

१३१—जिन धर्मों की रसाई या पहुँच पिंड से परे नहीं है और जिनके सिद्धान्त पद या स्वर्ग ज़्यादातर इसी पृथ्वी के समान हैं, उनको ऐसा एतराज़ नहीं हो सकता कि नीचे के सम्बन्ध या बन्धन ऊपर नहीं ले जाए जायँ।

१३२—बल्कि वास्तव में उन मजहबों के मानने वाले जो यहाँ का सा मायक सुख चाहते हैं, वह उनको परलोक में प्राप्त होता है। उनकी वे चाहें या तो स्वर्ग में पूरी होती हैं जहाँ जीवन की शुद्धता अधिक है और जहाँ ऊँचे दरजे के इन्द्रिय सुख हैं या पृथ्वी से बहुत मिलते-जुलते किसी बीच के सूक्ष्म मसाले के से बने हुए स्थान में संतुष्ठ होती हैं जहाँ सच्ची भक्ति से रस्मी पूजाओं को करने वाले जीव जाते हैं। वहाँ मुख्यतः उनका जीवन वैसा ही होता है जैसा कि इस पृथ्वी पर था यानी वे वहाँ भी पहले की तरह मसजिद, गिरजा या मन्दिरों में काठ या पत्थर की मूर्तियों का ही पूजन किया करते हैं, लेकिन वहां उनको जीवन में अधिक शान्ति मिलती है क्योंकि वहाँ सिर्फ़ वे

ही जाने पाते हैं जो सचमुच भक्त होते हैं और वहाँ पहुँचने पर ऊधमी और नीच प्रवृत्ति वालों का संग छूट जाता है। शुभ कृत्यों का फल समाप्त होने तक वे वहाँ उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि स्वर्ग के जीव स्वर्ग में।

१३३—इन सूक्ष्म लोकों में भी बास पाना तभी हो सकता है जब कि भक्त की भक्ति इतनी तीव्र और दृढ़ हो कि वह सूक्ष्म रचना को इस हेतु प्रभावित कर सके।

अध्याय २

नीचे अर्थात् ब्रह्मांड और पिंड की रचना और उसका उद्देश्य

प्रकरण २३

चैतन्यता में ह्रास या न्यूनीकरण—नीचे की रचना का कारण

१३४—प्रथम रचना का कार्य, भंवरगुफा का मंडल बँधने पर समाप्त हो गया क्योंकि चैतन्यता में कमी होते होते इस क़दर कमी आ गई कि रचना करने वाली धार के दो अंग शब्द और सुरत अब उस रत और तद्रूप अवस्था में मिल कर नहीं रह सकते थे जो कि प्रथम रचना की रीति पर कार्य करने के लिये ज़रूरी था। शब्द और सुरत की ऐसी रत अवस्था में रहने से ही अत्यन्त ऊँचे दरजे की शक्ति और आनन्द प्राप्त हो सकता है। शब्द और सुरत की रत अवस्था के प्रभाव से चैतन्य ज्ञान एक तौर पर चमक उठता है यानी जाग जाता है। जब तक ऊँचे के देशों से आने वाली चैतन्य धार की सहायता न मिले, यह कैफ़ियत नीचे के लोकों या मण्डलों में कभी भी हासिल नहीं हो सकती।

१३५—चैतन्य धार के दो अंग, शब्द और सुरत के सम्मिलन में कमी होते जाना रचना की कार्रवाई में सबसे ज्यादा महत्त्व की बात है और नीचे की रचना का यही मूल कारण है ।

प्रकरण २४

नीचे की रचना का क्षेत्र-निरपेक्ष क्षेत्र का निचला भाग तथा निम्न ध्रुव

१३६—दोनों ध्रुवों या सिरों के बीच में जो निरपेक्ष या उदासीन क्षेत्र था, उसके ऊपरी भाग में ऊँचे देशों की रचना हुई । उदासीन क्षेत्र के नीचे जो मैदान पड़ा था, उसमें और भी कम चैतन्यता थी । उसी को निम्न ध्रुव या नीचे का सिरा कहते हैं, उदासीन क्षेत्र का निचला हिस्सा और निम्न ध्रुव प्रान्त, ये दोनों द्वितीय रचना के लिए उपयुक्त स्थल बने । उनमें क्रमशः अनेक ब्रह्मांडों और पिंडों की रचना हुई । उनमें से एक पिंड देश में हमारी पृथ्वी अवस्थित है । नीचे की रचना की वसअत या विस्तार किस क़दर अल्प या छोटा है, उसका अंदाज इस बात से किया जा सकता है कि पिंड देश जो देखने में अपार लगता है, ब्रह्मांड के मुक़ाबले में नगण्य सा है । अपरंच ऐसे २ अनेकों ब्रह्मांड और पिंड हैं । इन सबको

मिलाकर एक ओर रक्खा जावे तो सत्तदेश के विस्तार के सामने वह भी तुच्छ ही प्रतीत होगा।

प्रकरण २५

नीचे की रचना का उद्देश्य

१३७—कारखाने में जब किसी कच्चे माल से कोई दूसरी वस्तु तैयार की जाती है तो थोड़ा बहुत कच्चा माल काम में आने से बच रहता है। उसको दूसरी पूरक विधियों से पुनः प्राप्त किया जाता है। यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। सोने की खान से जो मिट्टी मिली हुई कच्ची स्वर्ण धातु निकलती है, पहले उसको कूट पीस कर चूरा बनाया जाता है, तब उसमें से पारद क्रिया द्वारा स्वर्ण अलग किया जाता है। इस क्रिया में स्वर्ण का अधिकांश भाग पारे की ओर आकर्षित होकर डले बन जाते हैं। लेकिन कुछ सोने के बहुत बारीक ज़र्रे या कण सांचे या भांडे में चिपके हुए रह जाते हैं। कारण यह कि उन पर पारद क्रिया का असर नहीं हो पाया। अतः उनको पुनः प्राप्त करने के लिए अब दूसरी प्रक्रिया का किया जाना आवश्यक होता है।

१३८—प्रथम रचनात्मक रीति से निर्मल चैतन्य देश के मंडलों की रचना हो जाने के बाद वह मसाला या सामग्री बाकी बची थी कि जिसमें से स्वर्ण पूर्ण रूप से न निकलने पाया था अर्थात् उसमें अगणित अपेक्षाकृत दुर्बल सुरतें मौजूद थीं जो अभी तक बेहोशी की हालत में

पड़ी हुई थीं। आकर्षण शक्ति उन सुरतों को अपने आवरणों से मुक्त न करने पाई थी। अन्य सुरतों की भाँति अगर वे अपने परदों को फाड़कर उनसे बाहर निकल आतीं और ऊपर गई हुई सुरतों द्वारा त्याग किए हुए आवरण धारण कर लेतीं तो वे भी होश में आ जातीं। रचनात्मक प्रक्रिया द्वारा जो सुरतें जागकर पूरे होश में आ गईं, वे सदा के लिए सत्तदेश में बस गईं। पर ज़ो सुरतें ऐसी थीं कि चैतन्यता की कमी के कारण सत्तदेश में होश न प्राप्त कर सकती थीं जब तक कि इनकी चैतन्यता उन्नत न कर दी जावे, वे सत्तदेश में नहीं ठहर सकतीं थीं। इस ग़रज़ से कि इनकी चेतनता का स्तर इतना ऊँचा उठा दिया जावे कि वे लौट कर सत्तदेश में जा सकें और सदा के लिए वहाँ विश्राम कर सकें, कुल्ल-कर्त्तार परम पिता ने नीचे के मंडलों और लोकों की रचना करने की मौज और व्यवस्था की जिससे वे अचेत सुरतें वहाँ जाकर अपना सुधार करें और अंत में पूर्ण उद्धार प्राप्त करें। निःसंदेह यह सारी व्यवस्था मालिक की मौज से हुई, किन्तु रचना के घटना-क्रम का जो खाका हमारे सामने रक्खा गया है उससे ऐसा मालूम होता है गोया नीचे की रचना के प्रधान कर्त्ताओं ने अपने आप यह काम किया।

१३९—आदि में सत्तदेश में जो विभिन्न श्रेणियों की सुरतें मौजूद थीं, उनका पारस्परिक संबंध इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। प्रथम, वे सुरतें थीं जिनमें

आवरणों पर चैतन्य की प्रधानता थी। सुरत और उसके गिलाफ़ में पूर्णतया मेल और संगति थी, परन्तु सुरत अंग मुख्य था। ये सुरतें पुरुष के आकर्षण में आकर्षित हुईं और पुरुष के प्रेम स्पर्श से जाग गईं जैसा कि वर्णन किया जा चुका है।

१४०—दूसरी क़िस्म की वे सुरतें थीं जिनके आवरणों और चेतनता में बराबरी थी यानी कोई किसी पर हावी या प्रधान नहीं था। ये सुरतें आकर्षण में आकर्षित न हो सकीं और बेहोश पड़ी रहीं। ये सुरतें सत्तदेश की रचना के बाद बचे हुए चैतन्य का श्रेष्ठतर अंश थीं। इन्हीं सुरतों को सत्तदेश में सचेत स्थिति प्राप्त कराने के उद्देश्य से परम पिता ने द्वितीय रचना करने का निश्चय किया।

१४१—तीसरी प्रकार की वे सुरतें थीं जिन पर उनके आवरण या ग़िलाफ़ हावी थे। सुरतें ग़िलाफ़ों के अधीन थीं। ये सुरतें मानो बेकार पड़े हुए अवशिष्ट चैतन्य की तलछट या स्थूल अंश थीं। ये सत्तदेश में ठहरने में असमर्थ थीं क्योंकि उनकी चेतनता का स्तर इस क़दर नहीं ऊँचा किया जा सकता था कि वे वहाँ सचेत स्थिति प्राप्त कर सकें। मिसाल के तौर पर यह शरीर से निकले हुए मल की तरह थीं जिसका शरीर के अन्दर कोई उपयोग न होने से बाहर फेंक दिया जाता है।

प्रकरण २६

काल और माया

१४२—वह आवरण या ख़ोल जिनका बयान ऊपर किया गया है और जो चैतन्य के ऊपर प्राधान्य रखते थे, एक दूसरे में लीन हो गए। शब्द की धार के अनुरूप खोल ब्रह्म या काल के रूप में प्रकट हुए और सुरत की धार से मुताबिक़त रखने वाले आवरण महाशक्ति माया या आद्या के रूप में।

१४३—काल या ब्रह्म सत्तादेश में सचेत व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ। चूँकि वह दूसरे मण्डल की रचना का प्रमुख कर्ता है और हमारी जीवन घटनाओं से उसका अति दीर्घकाल से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, इसलिए उसकी मौलिक विशेषताओं का यहाँ ही वर्णन करना लाभदायक है।

१४४—काल में बड़ी भारी चेतनता है, लेकिन उसमें उस चीज़ की जिसको हम मन का अंग कहते हैं, प्रधानता थी यानी सुरत अंग पर मन या ग़िलाफ़ का प्रभुत्व जमा हुआ था। उसके स्वभाव का यह लक्षण उसकी उत्पत्ति से ही विदित है।

१४५—जैसा कि ऊपर संक्षेप में कहा जा चुका है, प्रथम रचनात्मक कार्य के समाप्त होने और द्वितीय रचना के कार्य और स्वरूप को निश्चित करने का मुख्य कारण यह था कि सुरत और शब्द की रत अवस्था का रहना

जो प्रथम रचना के लिए ज़रूरी था, अब ना-मुमकिन हो गया क्योंकि जिस क्षेत्र में अब उनकी धार का प्रवेश हुआ उसमें चैतन्यता की ब-मुक़ाबले सत्तदेश के कमी थी और इसलिये उनके चैतन्य की तीव्रता में भी इतनी कमी आ गई कि वह रत और तद्रूप अवस्था में नहीं रह सकते थे। पहले कशिश या आकर्षण, प्रेम और एक-सुरापन होने की अवस्था थी। अपना अलग स्वार्थ नहीं था। कोई मुख़ालिफ़त या विरोध न था। क्योंकि सब का हित एक ही था। सब की भलाई ही हर एक का मक़सद था। लेकिन अब मुख़ालिफ़त, द्वेष, स्वार्थ सिद्धि आदि की भावनाएँ प्रकट हो गईं और ज्यों २ नीचे उतार होता गया, ये बढ़ती गईं और ज़ोर पकड़ती गईं। पहले अन्तरमुख शक्ति का सर्वत्र साम्राज्य था। उसकी जगह अब बहिरमुख शक्ति प्रकट हो गई।

१४६—यहाँ पर अपने और दूसरों के अलेहदा २ होने की भावना उत्पन्न हुई और अब सुरत चैतन्य का स्वतंत्र जीवन नहीं रह गया। काल, माया और नीचे की रचना के बासी, जीवन कार्य चलते रहने के लिए, ऊपर से आने वाली चैतन्य शक्ति के आश्रित हैं।

१४७—इन सब नई अवस्थाओं का काल मुख्य उदाहरण है। यह प्रवृत्ति उन आवरण प्रधान सत्ताओं में थी जिनसे वह प्रकट हुआ। उसको दूसरों से पहले अपने सुख प्राप्ति का खयाल होने लगा। दूसरों के हित की अवहेलना करके यानी दूसरों की ग़रज़ और मतलब को ठुकरा कर उसने

अपनी गरज़ और मतलब को आगे बढ़ाने की कोशिश की। उसमें भी प्रेम अंग था। वास्तव में प्रेम से ख़ाली कोई भी नहीं है। लेकिन काल में प्रेम उस पवित्र और प्रधान रूप में नहीं है जो सत्तादेश की अवस्था से एक-सुर रहने वाली सुरतों में है। यों उसमें प्रेम और चैतन्यता बहुत बड़ी मात्रा में है लेकिन उसके होते हुए भी वह ख़ुद-ग़र्ज़ और पेशबंदी करने वाला है और जहाँ अपने मतलब के पूरे करने का सवाल पैदा हो, वहाँ कुछ भी कर गुज़रने में उसे कोई संकोच या भय नहीं है। उसके तथा उन जीवों के साथ जो स्वभाव में काल के समान थे तथा जिनमें ख़ोलों का प्रभाव अधिक था, अमल या कार्रवाई का यह आदर्श कि जिसकी लाठी उसकी भैंस यानी हक़ पर बल की मुख्यता उत्पन्न हुई। जब तक सब प्रेम ही प्रेम था और आकर्षण अंतर्मुख था, तब तक काल नहीं प्रकट हुआ। लेकिन जब खिंचने वाला, कशिश या आकर्षण से अन्दर की ओर नहीं खिंच सका तब वह जो नहीं खिंच सका, काल के रूप में प्रकट हुआ और उसमें सर्व प्रथम यह ख़याल उठा कि मुझको क्या करना चाहिए। उससे पहले ख़याल या कल्पना नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं क्योंकि सब सहानुभूति और समन्वय में था। काल के साथ कल्पना की उत्पत्ति हुई।

१४८—फिर भी काल एक बड़ा पुरुष है जिसमें विरोध या मुख़ालिफ़त करने, विरोध या मुख़ालिफ़त को दबाने, ज़बरदस्ती अपना हुक्म मनवाने, अपने इरादे पर क़ायम

रहने और अपनी ग़रज़ और मतलब को आगे बढ़ाने में हठ पूर्वक लगे रहने की बड़ी भारी शक्ति है। इसीलिये नीचे की रचना के कार्य के लिए वह उपयुक्त व्यक्ति था। इसके विरुद्ध, सुरत विरोध के सामने सदा सिमट जाती और पीछे हट जाती है।

१४६—काल ने सत्तदेश को अपने लिए उपयुक्त स्थान नहीं पाया और न वहाँ का बातावरण उसके अनुकूल था। जो धर्म और नीति उस देश में बरत रही है, उसके अनुसार वह कार्य नहीं कर सकता था। सत्तदेश के बासियों का मुख्य रस और आनन्द और मज़ा इसमें है कि वे परम पुरुष की भक्ति में मगन रहें और परम पुरुष से प्रेम करें और उसका प्रेम प्राप्त करें। लेकिन काल यह नहीं कर सकता था। उसको वहाँ बेचैनी पैदा हुई। चैतन्यता की कमी की वजह से वह सत्तदेश में नहीं ठहर सकता था, न उसको सत्तदेश से कोई उन्स या मोहब्बत थी। वह उन नीच प्रवृत्ति वाले मनुष्यों की तरह था जो अपने दरजे के आदमियों की सोहबत में रक्खे जावें तो ख़ुश रहते हैं, लेकिन अगर उनको अधिक उन्नत और सभ्य समाज में रक्खा जावे तो अकुलाहट और तकलीफ होती है। अतः उसने कहा, "मेरे लिये यही अच्छा है कि मैं अपने लिए अलग रचना रचूँ और वहाँ राज्य करूँ"।

१५०—काल को नीचे के लोकों से सहानुभूति है क्योंकि उसमें और नीचे के लोकों के अधिवासियों में चैतन्यता की न्यूनता है।

१५१—काल को अलग रचना करने की चाह का होना, मालिक की मौज से था। इसलिये काल का नीचे उतार हुआ। सत्तदेश की रचना के पश्चात् अब जो नीचे रचना हुई उसका रचने वाला और उसका इंतज़ाम करने वाला और उस पर राज्य और हुकूमत करने वाला काल है।

प्रकरण २७

बहिरमुख शक्ति का प्रकट होना

१५२—सत्तदेश में चैतन्य शक्ति की धार का रुख़ ऊपर और अन्दर की तरफ़ था। अंतरमुख आकर्षण था। रचनात्मक धार जिन २ मंडलों में होकर आई, उन सब पर ऊपर की ओर आकर्षण या खिचाव का असर पहुँचा। कोई बहिरमुख क्रिया या विरोध या ज़बरदस्ती करने की प्रवृत्ति नहीं थी। यह उसी तरह था जिस तरह कि चुम्बकीय क्षेत्र में प्रत्येक भाग पर आकर्षण का प्रभाव चुम्बक की ओर खिचने का होता है। चुम्बकीय क्षेत्र के किसी भी विन्दु को देखिए। प्रत्येक विन्दु पर लोह कण चुम्बकीय ध्रुव की ओर आकर्षित हो रहा है। काल के पैदा होने पर और उसके सत्तदेश से निकल जाने पर यह अवस्था न रही। उसका रुख़ बाहर की ओर था यानी भंडार या केन्द्र की तरफ़ खिचने के बजाय, उससे दूर और अलग, किसी अन्य वस्तु पर क्रिया करना।

१५३—काल इस नई प्रवृत्ति यानी बहिरमुखता का मूर्तिमान रूप था। लेकिन नीचे की रचना के लिए तो वह अंतरमुख शक्ति का एक बड़ा केन्द्र है। क्योंकि काल नीचे की रचना का कर्त्ता है। और कोई रचना या निर्माण बिना आकर्षण शक्ति के नहीं हो सकता। यदि आकर्षण या अंतरमुख शक्ति न हो तो रचना बिगड़ जायगी।

प्रकरण २८

माया

१५४—सत्तदेश से काल के निकलने पर उसके साथ माया या आद्या भी निकली। सुरत धार से मुताबिक़त रखने वाली वह भी एक बड़ी शक्ति है। वह चैतन्य के स्त्रीत्व अंग की प्रतिनिधि है। काल की अपेक्षा उसमें कम चैतन्यता है।

प्रकरण २९

माद्दा या द्रव्य

१५५—माया से माद्दा या द्रव्य पैदा हुआ। जहाँ तक ग़िलाफ़ों या आवरणों पर सुरत का प्रभुत्व स्थापित रहा, माया का जहूर नहीं हुआ। लेकिन सत्तदेश के नीचे की सीमा पर चैतन्यता में कमी आ गई और वहीं पर कुहरे की तरह धुँधले रूप में माया की उत्पत्ति हुई।

तत्पश्चात् उसमें से अत्यन्त बारीक और सूक्ष्म कण निकले। वे ही विद्युत्कणों, अणुओं और परमाणुओं के मूल रूप हैं। व्यास वसिष्ठ आदि जोगेश्वरों ने माया का वह धुँधला रूप देखा था। उससे ऊपर क्या था, उसे वह न देख सके। माया के इस कुहरे की तरह धुँधले रूप को 'शुद्ध माया' कहते हैं। शुद्ध माया का स्थान सत्तादेश का निम्न भाग है।

प्रकरण ३०

रंगों की उत्पत्ति

१५६—रंग पहले पहल काल और माया के साथ पैदा हुआ। काल और माया की उत्पत्ति से पूर्व सब श्वेत था। काल की धार का रंग नीला और माया की धार का रंग कुछ कुछ हरापन लिए हुए पीला था।

प्रकरण ३१

अँधेरी किरनियों की उत्पत्ति

१५७—काल और माया में मिलावट थी। उनमें अँधेरी किरनियाँ थीं। इसी से वे सर्वाङ्ग में श्वेत नहीं थे। यदि सूर्य की किरनियों में से अँधेरी किरनियों को पृथक कर दिया जावे तो सफ़ेद किरनियों की चमक बहुत बढ़ जावेगी। इससे कुछ २ समझा जा सकता है कि काल और माया में मलीन तत्त्वों के होने से किस प्रकार उनकी रोशनी भी मैली हो गई।

१५८—ज्यों २ रचना में नीचे उतार होता जाता है, रोशनी या रोशन किरनियाँ कम होती जाती हैं, यहाँ तक कि पैंदे में पहुँच कर वस्तुतः रोशनी है ही नहीं। न वहाँ जीवन है। मगर फिर भी ऐसा नहीं कि रोशनी बिल्कुल ही न हो। प्रकाश तत्त्व वहाँ भी मौजूद है क्योंकि जो कुछ दिखाई देता है, उसमें कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य होना चाहिये।

प्रकरण ३२

काल को दूसरी क़िस्म की सुरतों की आवश्यकता

१५९—दूसरी प्रकार की सुरतें जिनकी चेतनता और आवरणों में सम तुलन था, काल और माया के साथ विशाल संख्या में भेजीं गईं।

१६०—काल को अपनी नई रचना अथवा राज्य में उच्च श्रेणी के जीवों की बस्ती बसाने के लिए इन सुरतों की जरूरत थी। स्वयं उन सुरतों के लिए भी यह कल्याणप्रद था और कुल्ल-मालिक की भी यही मौज थी। इसमें यह मसलहत थी कि नीचे के लोकों में इन सुरतों को जो तजरुबे होने थे, उनकी मदद से वे उन जड़-प्रवृत्तियों से जिनसे कि वे दबी हुई थीं, छुटकारा पा सकें। अपरंच उनमें जो चैतन्यता की कमी थी, उसको पूरा करके उनको फिर सत्तदेश में बुला लिया जावे और वे

पूरे होश हवास के साथ आनन्दमय होकर वहाँ सदा के लिये रह सकें।

१६१—उनके खोल काल और माया के से होने के कारण ऐसे थे कि काल और माया के देश में कारकुन और क्रियाशील होकर उनके साथ और उनकी सहायता से क्रिया करने की सुप्त शक्तियों को पूरी तरह जाग्रत और इस्तेमाल करके ख़ारिज कर सकें। जब क्रिया करने की ये सुप्त शक्तियाँ इस तरह ख़ारिज हो जावेंगी तब सुरतें उस इल्लत से जो उनको दबाए हुए है, मुक्त होकर सत्तादेश लौट जावेंगी। चैतन्यता की जिस कमी के कारण वे प्रथम रचनात्मक कार्रवाई से प्रभावित न हो सकीं थीं और इसलिए सत्तादेश में न ठहर सकती थीं, वह कमी संत सतगुरु के सतसंग से और अन्य प्रकार से जिनका नीचे बयान किया गया है, पूरी कर दी जावेगी।

१६२—यह क़ायदा है कि जहाँ की जो सुरत है, उसकी पूरी शक्ति वहीं पहुंच कर खुलती है और ज़हूर में आती है। इसलिये इन सुरतों की पूरी शक्ति या चैतन्यता ऊपर के देशों में लौट कर ही जागेगी।

१६३—यह याद रखना चाहिये कि जब सुरत ऊपर चढ़ती है, तब नीचे के देशों में तन और मन के विकास द्वारा ग़िलाफ़ों की शक्ति झड़ कर उन्हीं देशों में रह जाती है जहाँ वह क्रियाशील या सक्रिय रह सके। शक्ति का वह भाग जो माया से संबंध रखता है, माया की विशाल काया में लय हो जाता है। मन जो कि काल या ब्रह्म की अंस

हैं, सुरत के ब्रह्मांड से ऊपर जाते समय, उससे अलग होकर यहीं छूट जाता है और काल में समा जाता है और काल के साथ वह भी यहाँ राज्य करता है। हाँ, उसकी अलग व्यक्ति क़ायम नहीं रहती, क्योंकि अलग व्यक्ति सुरत के साथ रहने से थी। कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति या ताक़त का किसी प्रकार भी विनाश नहीं होता।

१६४—सुरतों के इसी जत्थे में हम लोग भी जो पिंड और ब्रह्मांड के इस तथा अन्य विश्वों के अधिवासी हैं, नीचे के देशों में आए जहाँ हम अभी तक हैं।

१६५—सब सुरतें सत्तदेश में लौट कर जावेंगी। कम से कम संत मत के अनुयायियों को तो इस विषय में तनिक भी संदेह रखने की जरूरत नहीं। वे जीव जो इस वक़्त संत मत में आ रहे हैं, निस्संदेह अपनाए हुओं में से हैं यानी ये वे जीव हैं जिनका असली घर सत्तदेश है और जो वहाँ पहुँचनहार हैं। राधास्वामी दयाल के चरनों में पहुँच कर ही वे शांत और संतुष्ठ होंगे। इस मत के वर्तमान अनुयाई पहले और आगे पहुँचने वाले हैं। कड़े विरोध का मुक़ाबला करने की रूहानी शक्ति इनमें बहुत है। इनका विश्वास इतना जबरदस्त है कि वह इनको आगे बढ़ाए ही जावेगा। इन अग्रगामी जीवों के बाद अन्य लोग भी शामिल होते जावेंगे। अनुयायियों की संख्या बढ़ने तथा संत मत के लोक प्रिय होने से उनके लिए संत मत का परमार्थ कमाने की परिस्थितियाँ सरल हो जावेंगी।

१६६—रचना की प्रथम प्रक्रिया की, बीजों में से तेल निकालने की क्रिया से उपमा दी जा सकती है। वे बीज जिनमें से सिर्फ हलके ही दबाव से तेल निकल सकता था यानी वे सुरतें जो अन्तरी आकर्षण में आकर्षित हो सकीं, सत्तदेश में ही ठहराई गईं। वे जो किसी क़दर सख़्त थे और जिनको ज़्यादा दबाने की जरूरत थी, काल और माया के साथ नीचे उतर कर आए ताकि उनके साथ बरत कर और कार्रवाई करके जो सख़्त तजरुबे हासिल हों, उनसे उनकी सफ़ाई हो जावे और तब वे भी वापस सत्तदेश में जाने के क़ाबिल हो जावें। काल और माया, रचनात्मक क्रिया की शेष पैदावार हैं। माया, भूसी की तरह है जिसमें तेल (चैतन्यता) क़रीब २ नहीं के बराबर है। काल, खली की तरह है कि जिसमें से तेल का ज़्यादा हिस्सा निकाल लिया जा चुका है। काल और माया सत्तदेश में उसी तरह नहीं लौट सकते जिस तरह कि शरीर में से एक बार बाहर निकला हुआ मल वापस शरीर में नहीं जा सकता।

प्रकरण ३३

काल द्वारा अलग नई रचना रचने के कारण

१६७—जिन कारणों से काल अपनी न्यारी रचना खड़ी करने को बाध्य या मजबूर हुआ, उनमें से कुछ ये

हैं :—(१) अपना अलग राज्य स्थापित करने की इच्छा और (२) जिस दरजे या स्थान पर पहुँच कर सुरत और शब्द की धारें अलग २ हो गईं, वहाँ पर काल को कमी चैतन्यता की वजह से चाह का उठना और उसको पूरा करने की जरूरत महसूस होना। सत्तदेश में शब्द और सुरत पूर्ण रूप से एक दूसरे में समाए हुए थे। इसलिये वहाँ चाह या इच्छा के उठने का कोई सवाल ही नहीं था। वहाँ पूर्ण संतुष्टता और आनन्द की अवस्था उसी प्रकार थी जिस प्रकार कि बिजली के तार के धनात्मक और ऋणात्मक दोनों सिरे मिल कर घेरा या मंडल बँधने पर ही बिजली का प्रकाश चमकता है। (३) वह जानता था कि उसमें बहुत चैतन्यता है मगर फिर भी रस और मजा हासिल करने के लिए वह काफ़ी न थी, उसको और अधिक चैतन्यता की जरूरत महसूस होती थी। रस, चैतन्यता में ही है। नई रचना रची जावे तो ऊपर से चैतन्य उतर कर आवे और उस धार में से वह अपने मतलब के लिए भी हड़पे।

प्रकरण ३४

काम क्रोध आदि की उत्पत्ति

१६८—पहले कामना यानी चाह का उठना और दूसरों की मिल्कियत या माल को हथियाने और छीनने की कोशिश करना, यह दो बातें ऐसी हैं जिनसे काम

क्रोध लोभ मोह अहंकार आदि विकार उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव का निर्माण होता है। दूसरे के पास की वस्तु देख कर चाह उठी कि वह मुझको मिल जाय, यह काम है। उसको प्राप्त करने में यदि कोई रुकावट या बाधा उत्पन्न करता है तो क्रोध आता है। यदि वह वस्तु प्राप्त हो गई तो उसे और अधिक परिमाण या मात्रा में इकट्ठा करने की चाह होती है, यह लोभ है। उस वस्तु को प्राप्त करके तृप्ति का अनुभव होता है और उसके अधिकार और भोग से उसका मद चढ़ता है। इससे अहंकार पुष्ट होता है। इन विकारों की धारों और उप-धारों की उत्पत्ति काल की रचना में हुई। काल की रचना में सर्वत्र इन धारों और उप-धारों का प्रभुत्त्व है क्योंकि स्वयं काल के और उन जीवों के जो उसके साथ आए और जो अब उसके राज्य में बासी हैं, स्वभाव में मूलतः ये विकार धरे हुए हैं।

प्रकरण ३५

काल के शासन का स्वरूप

१६६—काल जबरदस्ती और दूसरों को डरा कर अपना काम निकालता है। जबरदस्ती और भय से जो राज्य या हुकूमत होगी, वह चंद-रोज़ा यानी थोड़े ही समय के लिये होगी। जबरदस्ती और भय सच्चे और हमेशा क़ायम रहने वाले उसूल नहीं हैं। सच्चा साम्राज्य

प्रेम और आकर्षण में है। वह राज्य जो प्रेम पर आधारित नहीं है, असली और ठहराऊ नहीं हो सकता। भौतिक जगत में इसकी उपमा अन्तरमुख और बहिरमुख शक्तियाँ हैं यानी प्रेम की तुलना अन्तरमुख शक्ति से और ज़बरदस्ती और डर की बहिरमुख शक्ति से की जा सकती हैं। अंतरमुख शक्ति ही असली शक्ति है। रचना के लिए यह अनिवार्य है। यह हमेशा रहने वाली ताक़त है। बर-अक्स इसके, बहिरमुख शक्ति का स्वयं अस्तित्व नहीं हैं। वह अन्तरमुख शक्ति के अधीन है और कुछ ख़ास हालतों में ही कार्य करती है।

१७०—काल में मुख़ालिफ़त और विरोध है। तोड़ फोड़ और ज़बरदस्ती करने का अंग है। अगर रचना उसके भरोसे पर छोड़ दी जावे तो तहस-नहस हो जावे। रचना अपनी शक्ल में क़ायम है यानी सधी हुई हालत में मौजूद है, इसका कारण वह चैतन्य शक्ति है जो परम पिता के चरणों से आ रही है। इसलिये कहा गया है कि इस संसार में गुप्त संत मौजूद रहते हैं जिनका कार्य उद्धार करना नहीं है, बल्कि उनसे जो चैतन्य का प्रवाह होता है, उससे यहाँ सम-तुलन अवस्था और ऐतदाल क़ायम रहता है। तुलसी साहब से ऐसा ही कोई गुप्त संत बतलाने को कहा गया तो उन्होंने कुलियों में से एक की ओर संकेत किया था।

१७१—काल के राज्य में दण्ड विधान है। वह हमेशा क़ायम रहने वाला नहीं है। काल का राज्य स्थापित

करने का मुख्य कारण उन जीवों का उपकार करना था जो प्रेम आकर्षण में आकर्षित होकर न जाग सके और इसलिये उनके लिए यह ज़रूरी था कि वे कुछ काल के लिए दंड के देश में रहें और दंड भोग कर उनका सुधार इतना हो ले कि फिर वे प्रेम के साम्राज्य में ठहर सकें।

१७२—काल के वश में केवल वही जीव हैं जिनका उनको पक्ष है। ज्योंही कोई जीव राधास्वामी मत में शामिल होकर परम पिता की सरन लेता है, उस पर से काल की हुकूमत उठ जाती है। कम से कम अब उस पर काल का और क़र्ज़ा नहीं चढ़ेगा। बल्कि जो क़र्ज़ा देना बाक़ी है उसमें दिन प्रति दिन कमी आती जावेगी।

१७३—काल के राज्य में जो जीव आ पड़े हैं उनकी बेहतरी का काल को निःस्वार्थ भाव से कुछ भी ख़याल नहीं है। जहाँ तक उसका मतलब निकलता है यानी स्वार्थ सिद्ध होता है, वहाँ तक पूरी दया करता है, आगे नहीं। इस दयालुता से उसके राज्य की आम बेहबूदी और बड़ाई तो होती है, लेकिन जब उसके स्वार्थ का विरोध होता है तो उसकी दयालुता खत्म हो जाती है।

प्रकरण ३६

काल और माया और नीचे के लोकों के धनियों का मर्तबा और पद

१७४—काल और माया नीचे के लोकों में पूरे तौर पर क्रियावान हो गए हैं यानी उनकी चैतन्यता यहाँ पूर्ण

रूप से खुल कर काम में आ गई है, कुछ गुप्त बाक़ी नहीं है। इसलिए वे यहाँ सदा के लिए अवस्थित हो गए हैं। जहाँ पर वे हैं, वहीं उनकी पूरी कार्रवाई जहूर में आ सकती है और इसलिये उनको दूसरी जगह या इससे ऊपर की रचना में जाने की ज़रूरत ही नहीं रही। न उनको इस तरह की कोई इच्छा ही है। अगर होती तो इसके मानी यह होते कि उनमें ऊपर जाने की क़ाबलियत है। ऐसी कोई इच्छा नहीं हो सकती जिसका पूरा करना संभव न हो।

१७५—रचना के विभिन्न लोकों के अधीश्वरों और धनियों तथा उनके आदि निवासी, हंसों और परम हंसों का भी दरजा ऐसा ही है। उनकी शक्ति वहाँ पूर्ण रूप से सक्रिय हो गई है और वहाँ पर उनकी स्थिति नित्य या सदैव के लिए है।

प्रकरण ३७

काल और दयाल के अवतारों में फ़र्क़

१७६—काल के कुछ अवतारों ने जैसे कृष्ण ने बहुत ऊँचे सिद्धान्तों और आदर्शों का उपदेश किया लेकिन उन्होंने संहार शक्ति को भी काम में लिया जिससे उनका असली रूप प्रकट हो जाता है।

१७७—संतों ने कभी संहार या हिंसा के कार्य नहीं किए। उन्होंने केवल प्रेम द्वारा ही विजय प्राप्त की। संसार में आकर मनुष्य स्वभाव, जैसे काम क्रोध आदि विकारी अंगों में भी वे बरते मगर इस तरह दूसरों का

उपकार ही हुआ। जैसा कि स्वामीजी महाराज ने फ़रमाया है कि संतों के क्रोध में भी दात है और मूर्खों की दया में भी घात है। जब तक मूर्खों का स्वार्थ सिद्ध होता है, तभी तक वह मेहरबानी का बरताव करते हैं। स्वामीजी महाराज ने बहुत ख़ूबसूरती के साथ संतों के क्रोध को पानी से उपमा दी है कि वह चाहे ठण्डा हो या गरम, जब अग्नि पर पड़ेगा उसे बुझावेगा ही। उसी प्रकार संतों के सब कार्य, चाहे वे दया के हों या क्रोध के, पीड़ा और दूख को दूर करने वाले होते हैं। उनमें केवल उपकार ही उपकार है। उनका रुख़ सुरत को ऊपर के देशों में चढ़ाने का होता है।

प्रकरण ३८

महासुन्न की रचना

१७८—स्वयं काल और माया में रचना करने के लिए पर्याप्त चैतन्य शक्ति नहीं थी। उनको अक्षर पुरुष से मदद लेनी पड़ी। अक्षर पुरुष, महासुन्न की गौण रचना में भाग लेने वाला ऊँचे दरजे का एक चैतन्य पुरुष है। उस रचना का अब वर्णन किया जावेगा।

१७९—महासुन्न की रचना, ऊपर की रचना की छोटे पैमाने पर छाया है।

१८०—महासुन्न एक विस्तृत मैदान है जो सत्तदेश और ब्रह्मांड को अलग करता है। इसके विषय में ज्यादा नहीं कहा गया है। महासुन्न का भेद कमोबेश गुप्त ही

रक्खा गया है। ऐसा कहा है कि वहाँ रोशनी नहीं है। वहाँ के रहने वाले अपने को स्वयं प्रकाश देते हैं। सत्तदेश से निकाली हुई कुछ सुरतों के लिए वह एक क़िस्म का बंदीगृह है। लेकिन वह सुरतें अपने भाग्य से संतुष्ठ हैं। हाँ सत्तदेश के बासियों को जिस तरह राधास्वामी दयाल का दर्शन प्राप्त है, वैसे उनको न मिलने से कुछ बेचैनी ज़रूर रहती है। वे वस्तुतः अमर हैं। इसका यह अर्थ है कि अति दीर्घ काल तक होश की हालत में रहने के बाद कभी २ वे निद्रा से मिलती जुलती हुई हालत में चली जाती हैं।

१८१—अक्षर पुरुष ने जो अविनाशी है, ब्रह्मांड के शिखर पर अपना स्थान ग्रहण किया था। काल और माया के वहाँ आने पर वह उनके साथ रचना के कार्य में शरीक हुआ।

१८२—राधास्वामी मत के आचार्यों ने पिंड और ब्रह्मांड के निर्माण और इतिहास का वर्णन संक्षेप में सरसरी तौर से किया है क्योंकि जीवों के लिये उनका महत्त्व और दिलचस्पी ऊँचे देशों की अपेक्षा जहाँ उनको स्थायी रूप से रहना होगा, कम है।

१८३—इनका वर्णन हिंदुओं के शास्त्रों में अच्छी तरह किया गया है। किंतु याद रखना चाहिए कि (१) सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान पुस्तकें पढ़ कर मालूम नहीं हो सकता है, उसके लिए विशिष्ट योगियों की ज़रूरत है और आज कल वे मिलते नहीं हैं। (२) इन शास्त्रों की उत्पत्ति स्थान

ब्रह्मांड से ऊपर नहीं है। इसलिये जीव का निज और असली घर कहाँ है, आदि में वह कहाँ से आया है, रचना किस उद्देश्य से रची गई, द्वैतवाद का सिद्धांत सच है या अद्वैतवाद का, इस तरह के विषयों पर जो कुछ उनमें लिखा है, वह वास्तव में केवल कल्पना और अनुमान है।

प्रकरण ३६

सुन्न, त्रिकुटी और सहसदलकँवल की रचना

१८४—राधास्वामी मत के ग्रँथों में लिखा है कि काल और माया ब्रह्मांड की चोटी पर पुरुष और प्रकृति के नाम से प्रकट हुए और अक्षर पुरुष से मिल कर रचना का कार्य शुरू किया। ब्रह्मांड में जो पहला स्थान रचा गया, वह सुन्न या दसवाँ द्वार है। इन तीनों से क्रमशः तीन धारें निकल कर आगे बढ़ीं और ब्रह्मांड में रचित दूसरे स्थान पर जिसको राधास्वामी मत में त्रिकुटी कहते हैं, मिलीं। यहाँ काल और माया, ब्रह्म और माया कहलाए। त्रिकुटी से यह तीनों धारें नीचे उतरीं और जिस स्थान पर इन्होंने ठेका लिया, उसको राधास्वामी मत में सहसदल कँवल कहते हैं। वहाँ काल और माया का नाम निरंजन और ज्योति हुआ। यह ब्रह्माँड में रचित तीसरा स्थान है। इसके आगे रचना का कार्य ज्योति निरंजन के तीन पुत्रों विष्णु, ब्रह्मा और शिव के सुपुर्द किया गया

और इन्होंने क्रमशः विष्णु लोक, ब्रह्मा का लोक और शिव लोक रच कर ब्रह्मांड की रचना का कार्य समाप्त किया ।

प्रकरण ४०

पिंड देश की रचना

१८५—ब्रह्मांड और पिंड के बीच में जो मैदान है, उसमें कुछ २ महासुन्न की तरह की क्षुद्र रचना है ।

१८६—विष्णु, ब्रह्मा, और शिव से और निरंजन तथा ज्योति से धारें निकल कर ब्रह्मांड के नीचे उतरीं और इन सबने मिलकर पिंड देश की रचना की जिसमें हमारा सौर्य मंडल छः उप-विभागों सहित अवस्थित है ।

१८७—ऊपर केवल एक ही पिंड और एक ही ब्रह्मांड के बारे में कहा गया है । लेकिन मुख्य २ लक्षणों में इनसे मिलते जुलते अनेक ब्रह्मांड और पिंड हैं ।

प्रकरण ४१

इस नई रचना में नई सुरतें नहीं उत्पन्न हुईं

१८८—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि नीचे के लोकों की रचना तो हुई, मगर वहाँ कोई नई सुरतें नहीं पैदा की गईं । सुरत का पैदा करना, काल और माया

की शक्ति से बाहर था। सुरतों की उत्पत्ति केवल ऊपर के देशों में ही हो सकती है जहाँ कि सुरत और शब्द की धारें रत अवस्था में हैं। सुरतों के बीज काल और माया से स्वतंत्र अवस्था में मौजूद थे। काल और माया केवल खोल या गिलाफ़ यानी शरीर बना सकते हैं और इस कार्य में भी उनको शुद्ध चैतन्य शक्ति की मदद की ज़रूरत पड़ी जो कि ब्रह्मांड और पिंड की रचना के लिए अक्षर पुरुष के महान चैतन्य केन्द्र से प्राप्त हुई और अलग २ शरीरों की रचना के लिए अलग २ व्यक्तिगत जीव सुरतों से।

१८९—लघु विश्व रूपी नर शरीर की रचना केवल काल और माया के संगठन से ही नहीं हो सकती। पिता द्वारा बीज की स्थापना होती है। लेकिन बिना मदद के वह बीज आप ही आप अंकुरित नहीं हो सकता। केवल केन्द्र स्थापित हो जाता है जिसमें इतनी चैतन्य शक्ति होती है कि उससे तैयार होने वाली देह में जो सुरत आकर विराजमान होगी, उससे संबंध स्थापित हो सके। बीज पड़ते ही यानी गर्भ की स्थिति होते ही, इस सुरत का मौजूद होना लाज़मी है और वह मौजूद रहती ही है। इसी सुरत से उपलब्ध की हुई शक्ति से और उसकी ज़रूरतों के अनुसार वह बीज बढ़ता है और यह सब कार्रवाई उस इच्छा से ज़हूर में आती है जो दुनिया के भोग विलास के लिए सुरत में ख़वासी तौर पर मौजूद है। इस तरह यह सुरत एक ऐसा औज़ार तैयार करती है जिसके द्वारा जहाँ आकर उसको रहना है, वहाँ की रचना से पूरा संबंध स्थापित कर सकेगी।

१९०—इस प्रकार जहाँ तक ब्रह्मांड और पिंड देशों की रचना का संबंध है, काल और माया अक्षर पुरुष की चैतन्य शक्ति के मोहताज थे और जहाँ तक अलग २ देहों की रचना का संबंध है, काल और माया उन सुरतों की चैतन्य शक्ति के मोहताज थे जो कि उनके साथ सत्तदेश से आई थीं अथवा काल और माया के आने से पहले ही वहाँ मौजूद थीं और जिनको दूसरी रचनात्मक क्रिया द्वारा लगभग उसी प्रकार जगाया गया जिस प्रकार कि प्रथम रचनात्मक क्रिया द्वारा इनसे ऊँचे दरजे की सुरतों को सत्तदेश में जगाया गया था। और वह जीव जो शुरू ही से बीज रूप में ब्रह्मांड और पिंड में मौजूद थे, अधिकांश में रचना की निम्न श्रेणियों के हैं। वह बहुत धीरे २ उन्नति करते हैं। प्रत्येक महायुग में उनका केवल एक दरजा बढ़ता है। वह ब्रह्मांड के परे नहीं जा सकते। चूँकि उनका उद्गम स्थान नीचे के लोक हैं, इसलिए वे ऊपर के देशों में जाने लायक़ नहीं हैं। ब्रह्मांड के सबसे ऊपर के हिस्से में जो सत्तदेश की सीमा पर है, वहाँ के बासी अलबत्ता अमर हो जाते हैं, मगर उनके ऊपर एक ऐसा कपाट लगा हुआ है कि जिसको फोड़ कर वे सत्तदेश में नहीं जा सकते।

१९१—ब्रह्मांड के बहु संख्यक बासी मृत्यु को प्राप्त होते हैं या मरणशील हैं यानी जब ब्रह्मांड का प्रलय होता है तब उनके शरीर का भी नाश हो जाता है। अलबत्ता जितने समय तक ब्रह्मांड की रचना क़ायम रहती है, उतने समय में उनका जन्म मरण नहीं होता। वे ब्रह्मांड की

लंबी अवधि के बाद केवल एक बार मरते हैं। मगर वह मृत्यु वास्तविक मृत्यु होती है। जिस प्रकार जीव को वर्तमान रचना की विकास प्रक्रिया से गुज़ारना पड़ा था, उसी प्रकार इसके बाद की रचना-विकास-प्रक्रिया में जाग्रत होना पड़ता है।

प्रकरण ४२

सब रूपों की रचना एक साथ हुई

१९२—ब्रह्मांड और पिंड में जितने रूप हैं, सब एक एक ही समय में एक साथ रचे गए। ऐसा नहीं हुआ कि एक रूप से दूसरा रूप निकला हो। तत्त्वतः सभी वस्तुएँ पहले उसी प्रकार मौजूद थीं, जिस प्रकार की अब हैं। उदाहरणार्थ पुराने जमाने के विशालकाय हाथी और अन्य पशुओं का अस्तित्व नष्ट हो गया है, किंतु उनसे मिलते जुलते पशु अब भी मौजूद हैं। मनुष्य की आकृति में भी परिवर्तन होता आ रहा है। इस तरह के रद्दोबदल तो हमेशा होते रहेंगे, लेकिन मुख्य २ लक्षणों में यह रचना वैसी ही रहेगी जैसी कि शुरू में थी।

प्रकरण ४३

वैज्ञानिक सिद्धांत सभी तथ्यों की व्याख्या नहीं करते

१९३—विज्ञान प्रत्येक वस्तु के ऐसे कारण बतलाने का प्रयत्न करता है जो माद्दी तथा हमारी इन्द्रियों के

दायरे में हैं। इसके विरुद्ध राधास्वामी मत में सब का मुख्य आदि रचनात्मक तथा अन्तिम कारण अगोचर चैतन्य बतलाया गया है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, गर्भ की स्थिति होने पर उस बीज में और उस सुरत में जो अन्त में उस शरीर में आकर बैठेगी, एक सूक्ष्म संबंध स्थापित हो जाता है जिसके ज़रिये से वह सुरत उस शरीर की बनावट और शक्ल को तरतीब देती रहती है। यदि यह सूक्ष्म संबंध सुरत चैतन्य से स्थापित न हो तो बीज या जीवाणु का तुरन्त नाश हो जावे। बिना सुरत चैतन्य की प्रेरणा और सम्हाल के माद्दा या द्रव्य कोई रूप क़ायम नहीं रख सकता। ज्योंही पिंड शरीर तैयार हुआ कि सुरत उसमें उतर आती है। सुरत के ठेका लेने का प्रथम ज़हूर या चिन्ह श्वास क्रिया का शुरू होना है।

१६४—किसी भी सिद्धान्त को सही तभी माना जा सकता है जब कि उससे सब बातें समझाई जा सकें। नीचे बयान की हुई बातों का जवाब विज्ञान के सिद्धान्तों से नहीं दिया जा सकता।

१६५—शक्ति के बिखेर को कौन रोकता है? यदि उसको खींच कर और समेट कर रखने वाली कोई चीज़ न होती यानी अगर कोई स्थायी केन्द्र उसके आकर्षण और समूह का न होता तो उसका बिखेर हो जाता तथा वह ला-पता हो जाती। बिखेर को रोकने वाली चीज़ आकर्षण और समूह शक्ति है। आकर्षण ज़ाहिर करता है

कि किसी उच्चतर शक्ति से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। अगर सायंस की यह धारणा है कि रचना नीचे से होती ऊपर को गई है यानी नीचे के केन्द्रों से ऊपर के केन्द्र निकले या पैदा हुए हैं तो फिर ऊपर के केन्द्र या केन्द्रों से जुदा होने पर नीचे के केन्द्रों का अस्तित्व क्यों नहीं क़ायम रहता। अगर सायंस के उसूल सही हों तो एक समय ऐसा ज़रूर होना चाहिए जब कि बिना उच्चतर केन्द्रों के, नीचे के केन्द्रों का अस्तित्व था और इसलिए नीचे के केन्द्र स्वतन्त्र होने चाहिए यानी नीचे के केन्द्रों को ऊपर के केन्द्रों का आश्रित न होना चाहिए। लेकिन वास्तविक बात यह है कि ऊपर के चक्रों या केन्द्रों के कट जाने पर नीचे वालों का भी विनाश हो जाता है। सही और सच्ची बात तो यह है कि शक्ति के बड़े केन्द्र से अनेक छोटे २ केन्द्र उत्पन्न हुए जिनसे कि अलग २ रूपों और आकृतियों की रचना हुई। पर चूँकि विज्ञान को द्रव्य से पृथक रहने वाली शक्ति का ज्ञान नहीं है, इसलिए उसका विश्वास है कि शक्ति का द्रव्य से अलग अस्तित्व संभव नहीं है। यही मूल भूल है।

१९६—एक छोटे या महदूद दायरे में सायंस का उसूल ठीक पाया जा सकता है क्योंकि ऐसे घेरे में परिस्थितियों के प्रभाव से रूप में परिवर्तन होते हैं। नीचे दरजे के रूपों पर जैसे पौधों और तरकारियों आदि पर इस तरह के असर ज़्यादा देखने में आते हैं। ऊँचे दरजे के रूपों पर कम; मसलन सायंस की कई ईजादों और तरीकों से वनस्पति और जानवरों की नस्ल में कई उप-

योगी परिवर्तन किए जा सकते हैं जैसे कि बरबैंक ने दरख़्तों और पौधों की मौजूदा क़िस्मों में क़लम करके नई क़िस्में तैयार कीं। लेकिन सायंस वालों का यह कहना कि नीचे दरजे के रूपों, शक्तियों और रचना से ऊँचे दरजे के रूप, शक्तियां और रचना निकली, ग़लत है।

१६७—नीचे के घाटों के मन और माद्दे की पैदाइश उन ग़िलाफ़ों से हुई है जो कि उन सुरतों द्वारा जिन पर वह आदि में चढ़े हुए थे, झाड़ दिये गए थे और जो कि दूसरी सुरतों से सम्बन्धित होकर होश में न आए यानी उन ग़िलाफ़ों को दूसरी सुरतों द्वारा सजीवता नहीं प्राप्त हुई। तब वे मन और माद्दे के रूप में ज़ाहिर हुए।

१६८—सत्तदेश में चैतन्य सर्वथा अखण्ड रूप में था और है। अणु, परमाणु या विद्युतकणों की भाँति वहाँ टुकड़े टुकड़े नहीं हैं। लेकिन नीचे के मंडलों या लोकों में कमी होते होते एक दरजे पर पहुँच कर चैतन्यता की तीव्रता में बहुत कमी आ गई।

अध्याय ३

जीवों का सत्तदेश में लौट कर जाना

प्रकरण ४४

सुरत चैतन्य का उतार

१६६—जिन सुरतों में चैतन्यता की कमी थी, उनको सत्तदेश से नीचे भेजा गया। कमी चैतन्यता की वजह से सुरतों में अनेक प्रकार की प्रवृतियां मौजूद थीं जो, जैसा कि ऊपर वर्णन हो चुका है, काल के स्वभाव में भी थीं, बल्कि ये प्रवृत्तियाँ उसकी ख़ास प्रवृत्ति के अनुकूल या मुआफ़िक़ ही थीं। लेकिन यह फ़र्क़ था कि सुरतों में गुप्त चैतन्यता का ख़ज़ाना रक्खा हुआ था जो काल में नहीं था। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण यह सुरतें सत्तदेश में होश में नहीं आ सकती थीं। उपयुक्त घाट पर जाकर उन प्रवृत्तियों की कार्रवाई की जावे यानी उनमें बरता जावे, तब उनसे छुटकारा मिल सकता है। इसी निमित्त उनको नीचे भेजना पड़ा। प्याज़ के छिलकों की भाँति ये प्रवृत्तियाँ सुरत के ऊपर ग़िलाफ़ रूप में चढ़ी हुई और सुरत को घेरे हुए थीं। वे कर्म और कल्पना के बीज थीं। सुरत की चैतन्य शक्ति उन ग़िलाफ़ों को झाड़ने या ख़तम करने के

लिए गोया बंधक और गिरवी रक्खी हुई थी। सुरत के खाते में चैतन्य रूपी धन बहुत जमा था मगर उसके नाम पर बहुत सी हुँडियाँ या रुक्के लिख दिए गए थे जिनको उसे चुकाना था। जैसे बीज में वृक्ष मौजूद है, वैसे ही जिस समय सुरतों को सत्तादेश से नीचे उतारा गया, उनमें बीज रूप में वे सब ग़िलाफ़ मौजूद थे। अतः वे प्रकट आवरण न होकर गुप्त यानी आगे चल कर विकसित होने वाले आवरण थे। वे तन मन रूपी ग़िलाफ़ के रूप में प्रकट हुए जो सुरत को नीचे के देशों के लगातार जीवनों में ढँके हुए थे। जब एक स्थूल शरीर अपना कार्य पूरा करके नाश हो जाता है तब उस ग़िलाफ़ की गुप्त शक्ति का केवल एक छोटा अंश खत्म होता है। दूसरी गुप्त शक्तियों के प्रकट होने से फिर दूसरे शरीर धारण करने पड़ते हैं।

प्रकरण ४५

आदि कर्म

२००—जैसा कि ऊपर कहा गया है, सुरत की आदि दशा में चैतन्यता की कमी के कारण ये ग़िलाफ़ पैदा हुए। ये तभी उतारे जा सकते हैं जब कि वे गुप्त अवस्था से क्रियावान अवस्था में आकर अपनी कार्रवाई करें। ये ही आदि कर्म कहलाते हैं यानी ये वे कर्म हैं जिनके कारण सुरत को नीचे माया देश में उतरना पड़ा और माद्दे और मसाले में जबरदस्ती धकेला गया। जब बहुत अंश में ये आदि कर्म थकित हो जावेंगे या कट जावेंगे, जब हुण्डियाँ

और रुक्के चुका दिये जावेंगे, तब सुरत के लौटने का समय आवेगा। नीचे की रचना में रहते २ और अनेक तजरुबे भुगत कर सुरत ने बहुत कुछ क़रज़ा चुका दिया है, लेकिन ऐसा करने में जो कुछ इसकी चैतन्य पूँजी थी उसमें भारी कमी आ गई है। सत्तदेश को लौटने में जो रुकावटें थीं, उनको सुरत ने दूर फेंक दिया है। किन्तु अब इसमें इतनी ताक़त नहीं रही कि यह अपने आप सत्तदेश में वापस जा सके और वहाँ जाकर बाहोश रह सके।

प्रकरण ४६

सत्तदेश में लौट कर जाने की गुप्त शक्ति सुरत में मौजूद है

२०१—जब सुरत सत्तदेश से उतरी, उसके आवरणों की क्रियाएँ सुप्तावस्था में थीं। उनमें खुल कर पूरी कार्रवाई करने का सामर्थ्य केवल नीचे के देशों में हो सकता था। लेकिन साथ ही साथ सुरत ख़ुद में ऐसी गुप्त शक्तियाँ थीं जो केवल सत्तदेश में ही ज़हूर में आ सकती हैं। इसी बात में उसके लौटने का कारण मौजूद है। यदि नीचे की रचना में ही जीव सुरत की सर्व शक्तियाँ क्रियावान होतीं तो वह हमेशा के लिए यहीं रह जाती क्योंकि उसमें कोई गुप्त शक्ति बाक़ी नहीं रहती जिसके लिए उसको दूसरी जगह जाने की ज़रूरत या मसलहत होती।

२०२—इस प्रकार यद्यपि जीव निबल है, मगर ऊँचे

के मण्डलों में अथवा सबसे ऊँचे धाम में जाने के लिये उसमें गुप्त शक्ति तथा चैतन्यता मौजूद है जिसकी वजह से वह काल और माया और नीचे के लोकों के सब धनियों को पार करता हुआ उनकी रचना के पार निकल जावेगा।

२०३—सबका सार, सबसे महत्त्वपूर्ण और बुनियादी बात यह है कि सुरत उस स्थान में अन्तिम बासा पावेगी जहाँ उसकी सर्व शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो सकें और वह स्थान वही होगा जहाँ से कि आदि में सुरत का उतार हुआ था। न तो वह उससे ऊपर जा सकती है और न उससे नीचे किसी जगह हमेशा के लिए ठहराई जा सकती है। नीचे केवल इसीलिये उतरती है कि अपने मूल स्थान में सदा के लिए बासा पाने की योग्यता प्राप्त करने के लिए उचित शिक्षण प्राप्त कर सके।

२०४—काल और माया के साथ जिन सुरतों को सत्तदेश से नीचे उतारा गया, उनको ब्रह्मांड में वहाँ के मसाले का शरीर दिया गया। पिंड देश की रचना हो जाने के बाद उचित समय पर अपनी अपनी जरूरियात के मुताबिक़ उनको पिंड में उतारा गया। इस लम्बे समय में जब कि सुरतों को नीचे की रचना में रहना पड़ा, वे मुख्यतया नर शरीर ही धारण करती रही हैं। नीची योनियों में ज्यादातर वे ही जीव हैं जो द्वितीय रचनात्मक क्रिया से नीचे के मंडलों में जगाए गए थे। इसलिए सत्तदेश से उतर कर आने वाली सुरतों के मुकाबले में ये नीचे के लोकों वाली सुरतें बहुत निम्न कोटि की हैं। अलबत्ता कभी २ उच्च कोटि की सुरतों को भी मनुष्य चोले से

नीचे दरजे के चोले धारण करने पड़ते हैं। जब कभी सुरतें ऐसी अवस्था को पहुँच जाती हैं कि बिना नीचे गए उनकी उन्नति नहीं हो सकती, तभी ऐसा किया जाता है।

२०५—इन सामान्यतः जीव कहलाने वाली उच्च कोटि की सुरतों के जीवन के इतिहास की मुख्य बातों का अब साधारण तौर से वर्णन किया जावेगा। अपरंच यहाँ उतर कर आने और यहाँ रखने का जो मूल हेतु है, उसको भी सविस्तार वर्णन किया जावेगा। इस काल और माया की रचना से छुटकारा हासिल करने और फिर सत्तदेश में लौट कर जाने और वहाँ सदा के लिए बासा पाने का परम पिता ने क्या बंदोबस्त किया है, वह भी समझाया जावेगा।

प्रकरण ४७

मनुष्य चोला सबसे पूर्ण और मध्य का चोला है

२०६—नर शरीर सब चोलों में पूर्णतम है। उच्च और निम्न, दोनों प्रकार की शक्तियों से समान रूप से प्रभावित होकर इस चोले का निर्माण हुआ है। इसीलिये रचना में यह मध्य का चोला कहा जाता है। ऊँचे देशों में जो रूप हैं, उनमें केवल ऊपर वाले केन्द्र या चक्र क्रिया-शील होते हैं। शेष निचले चक्र अविकसित और निश्चेष्ट रहते हैं। उदाहरणार्थ, सार बचन छंद बंद में महासुन्न के

कुछ बासियों के रूप मछली की तरह बतलाए गए हैं जिसका कारण यह है कि निचले चक्र और कर्मेन्द्रियाँ वहाँ निष्क्रिय हैं; अलग २ नहीं बने हैं, बल्कि एक से एक मिले हुए हैं जिससे शरीर का निचला भाग दुम या पूँछ की तरह लम्बा सा हो गया है। इसी तरह मनुष्य से नीची योनियों में जो रूप है, उनमें ऊपर वाले सब चक्र निष्क्रिय और निश्चेष्ट हैं। सिर्फ निचले चक्र क्रियावान अवस्था में होते हैं। खड़ा, सीधा क़द, सिर्फ़ मनुष्य शरीर में ही मिलता है जिसमें निचले चक्रों की ठीक सीध में, उनके ऊपर, ऊपर वाले चक्र रक्खे हुए या बने हुए हैं और सब चक्र व उप-चक्र यथा-प्रमाण सुघटित व्यवस्था में हैं। मनुष्य चोले से ज्यों २ नीचे उतरते जाते हैं, खड़ी और सीधी स्थिति तथा सुव्यवस्था ग़ायब होती जाती है, यहाँ तक कि वनस्पति रचना में पहुँच कर बिल्कुल औंधी शक्ल देखने को मिलती है। मस्तिष्क या दिमाग़ बजाय ऊपर होने के नीचे है।

प्रकरण ४८

आध्यात्मिक उन्नति केवल नर चोले में ही सम्भव है

२०७—आध्यात्मिक साधना के लिए ऐसे चोले की जरूरत है जो सारी रचना का नमूना हो और सारी रचना के मण्डल या देश उस चोले में यथा प्रमाण चिन्हित हों। ऐसा चोला केवल मनुष्य चोला है। इसलिए सुरत

की चढ़ाई का अभ्यास इसी चोले से करना आवश्यक है और अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने तक इसी चोले से अभ्यास करना पड़ेगा। मनुष्य चोला ही है जिसमें आध्यात्मिक साधना अर्थात् ऊँचे मण्डलों में गति प्राप्त करने का अभ्यास बन सकता है। ब्रह्मांड के किसी बासी को यदि ऊपर जाने की अभिलाषा हो तो उसे पहले पिंड देश में मनुष्य चोले में आना पड़ेगा। ऐसा कभी २ होता है। जब संत सतगुरु यहाँ नर शरीर में विराजमान होते हैं तब ब्रह्मांड की बहुत सी सुरतें यहाँ जन्म लेकर आती हैं ताकि संत सतगुरु की दया और सहायता से वे ऊपर के मण्डलों में गति प्राप्त कर सकें। लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि उन सुरतों का उद्गम स्थान या आदि स्थान ब्रह्मांड से ऊपर का हो।

प्रकरण ४९

सुरतों के सुधार या उद्धार का मार्ग

२०८—असंख्य ब्रह्मांड और पिंड, हमारे परिचित आकाशीय पिंडों (ग्रह नक्षत्रादि) की अण्डाकार गति से कुछ मिलती जुलती गति से भ्रमण करते हैं। उनकी परिक्रमा की गति ऐसी है कि जब वे सत्तदेश के सम्मुख आते हैं तब उन ब्रह्मांडों और पिंडों के वासी श्रेष्ठ जीव, जीवन के उस अनुभव को कि जिसके लिए वे भेजे गए थे, अधिकांश रूप में हासिल करके ऊँचे देशों में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह परिक्रमा महायुग जैसे अत्यन्त दीर्घ काल के पश्चात् पूरी होती है। उचित समय आने

पर परम पिता से सायुज्य अवस्था प्राप्त महान् सुरतें नीचे के लोकों में उतर कर आती हैं। यहाँ से अधिकारी जीवों को ऊपर के देशों की कठिन चढ़ाई के लिए तैयार करती हैं और सहायता प्रदान करती हैं। कुल्ल-मालिक परम पुरुष का संदेश लाने वाली ये महान सुरतें संत सतगुरु हैं। बिना संत सतगुरु की मदद और तैयारी कराने के, जीव सत्तदेश को नहीं लौट सकते और न वर्तमान अवस्था और स्थान में जिन बंधनों में वे मजबूती से जकड़े हुए हैं, उनको तोड़ सकते हैं।

२०९—यह कहा जाता है कि वर्तमान महायुग का अन्त आ रहा है और यह हिन्दुओं की ज्योतिष गणना के अनुसार कलियुग के अन्त में समाप्त हो जावेगा। कलियुग ही वह समय है जब कि जीवों के उद्धार के लिए संत यहाँ पधारते हैं। हिन्दु शास्त्रों के अनुसार कलियुग को प्रारम्भ हुए क़रीब पाँच हज़ार वर्ष हुए हैं और क़रीब चार लाख वर्ष के और कलियुग की अवधि रहेगी।

प्रकरण ५०

पहले के युगों में राधास्वामी मत जारी न करने का कारण

२१०—यह उच्च राधास्वामी मत इस जगत में युगों पहले प्रकट न किया गया और इतने समय तक जीव इस लाभ से वंचित रहे, इसका कारण यह है कि इससे पहले जीव इस लाभ को उठाने के लायक़ नहीं हुए थे। किसी

ख़ास मतलब से जीवों का यहाँ आना हुआ था और जब तक वह मतलब न बरामद हो ले, उनको वापस नहीं ले जाया जा सकता। ज्यों ही वे ऊपर जाने के योग्य हुए कि उनके लिए रास्ता खोल दिया गया।

प्रकरण ५१

जीवों को वापस सत्तदेश में बुलाने के लिए मालिक ने क्या बंदोबस्त किया है

२११—जब आदि कर्म में काफ़ी थकाव आ चुकता है, तब मालिक जीव को मदद पहुँचाने के लिए यहाँ अवतार लेकर पधारता है। यहाँ पधार कर मालिक वह आवश्यक साधन प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा क्षीण हुई शक्ति सुरत में फिर से भरी जा सके यानी उसमें एक तौर पर नई जान डाली जा सके। उन साधनों का नीचे वर्णन किया जाता है।

२१२—उद्धार के लिए मालिक की तरफ़ से जो इंतज़ाम किऐ गये हैं, उनमें से पहला तो यह है कि अधिकारी जीवों को पूरे गुरू के सतसंग का लाभ प्राप्त हो। इस निमित्त मालिक, सायुज्य अवस्था प्राप्त महान् सुरतों को इस पृथ्वी पर उचित समय आने पर भेजता है।

२१३—यह महान् सुरत मालिक की निज अंस होती है यानी सीधे मालिक से निकली हुई धार या किरन है

जो यहाँ संत सतगुरु रूप में अवतार धारन करती है। मन और माया के देश में जो हालतें दुःख-सुख की जीवों पर गुज़रती हैं, उनमें वह भी बरत कर उनका मुक़ाबला करते हैं और उन पर विजय प्राप्त करते हैं जिससे उन जीवों को भी वैसा ही करने में मदद और ताक़त मिलती है।

२१४—दूसरा इंतज़ाम मालिक ने यह किया है कि जीवों में सत्तदेश अथवा ख़ुद उसकी अनुपम चैतन्यता का बीजा या जामन डाला जावे। यह, मत में दीक्षित होने के समय होता है। सन्त सतगुरु अपना मत इसीलिये प्रकट और स्थापित करते हैं कि मन और माया के देश में फँसे हुए जीवों को उनके निज घर की प्राप्ति के अभ्यास में मदद पहुँचा सकें। वह अभ्यास, जीव इस समय कर सकते हैं। लेकिन सन्त सतगुरु की निरन्तर सम्हाल और हिदायत की ज़रूरत है क्योंकि सन्त सतगुरु इस पृथ्वी पर परम पिता के प्रतिनिधि या क़ायम-मुक़ाम हैं। बग़ैर उनकी मदद के काल के प्रबल विघ्नों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। जीवों को करना सिर्फ़ यह है कि वे अपने आपको मालिक की मौज के सुपुर्द कर दें यानी मालिक जो कुछ उनके लिये करे उससे वे मुआफ़क़त करें। यह किसी जीव से तभी हो सकता है जब कि उसके कर्मों में बहुत थकाव आ गया हो यानी कर्मों का वेग ख़त्म हो गया हो, वरना नहीं।

२१५—संत सतगुरु की रहनुमाई और मदद से जीव अपनी चैतन्य पूँजी या शक्ति को इकट्ठी करता है, खर्च

होने से बचाता है, उसमें वृद्धि करता है और जो कुछ काल कर्म का कर्ज़ा है, उसको चुका कर ऋण-मुक्त हो जाता है और तब एक बड़ी चैतन्य शक्ति के रूप में सत्तदेश को लौट जाता है।

२१६—तीसरा इन्तज़ाम या बंदोबस्त यह है कि परम पिता ने ऐसा रास्ता मुक़र्रर कर दिया है जिसके द्वारा उनके चरनों में पहुँचना हो सकता है और जो कोई वहाँ पहुँचना चाहे, उसे उस मार्ग या पंथ को धारण करना चाहिए।

२१७—रास्ता वही बतला सकता है जो कि जानता है यानी संत सतगुरु, और संत सतगुरु का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य यह है कि वे शिष्य का लक्ष्य स्थान से सम्बन्ध जोड़ देते हैं। इस कार्य के करने को वे इसलिये समर्थ हैं कि उनका स्वयं उन देशों से संबंध लगा हुआ है और रास्ते की सब मंज़िलों से संबंध या नाता जुड़ा हुआ है। उनके मुखारबिंद से निकले हुए शब्द, निरर्थक शब्द नहीं हैं। बल्कि जो कुछ वे फ़रमाते हैं, उसका उनको प्रत्यक्ष ज्ञान और स्वयं अनुभव है। जिन स्थानों का भेद वे उपदेश के समय देते हैं, वे स्थान उनके प्रत्यक्ष ज्ञान के भीतर हैं। इसलिये उपदेश देने के समय जैसे २ वे अंतरी और ऊपर के स्थानों का भेद कहते जाते हैं, उन स्थानों की छाप उपदेशी शिष्य की सुरत पर पड़ती जाती है और इस प्रकार उसका सूक्ष्म आध्यात्मिक नाता उन स्थानों से जोड़ दिया जाता है जो अगर्चे प्रारम्भ में बहुत हलका ही

होता है, किन्तु सर्वथा सत्य होता है और बाद में वही, अभ्यासी की ऊँचे देशों की चढ़ाई में रहनुमाई और मदद करता है। शुरू में यह सूक्ष्म नाता या सम्बन्ध इतना हलका होता है कि उसकी अभ्यासी भक्त को ख़बर नहीं पड़ती, लेकिन बाद में अभ्यास करने से जैसे २ उसकी चैतन्यता बढ़ती जाती है, यह सम्बन्ध भी दृढ़ होता जाता है और उसकी खबर पड़ने लगती है। जब भक्त ऊपर के मण्डलों में पहुँचेगा, उसको वहाँ का सब हाल प्रत्यक्ष रूप से मालूम हो जावेगा। गुरु के मुखारबिंद से जो भेद सुना था, वह सब उस पर प्रकाशित हो जावेगा और जैसे जैसे चाल चलेगी, होता रहेगा।

२१८—ऊपर के मण्डलों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये दो चीजों की ज़रूरत है। (१) उपदेश पूरे गुरु द्वारा होना चाहिए अर्थात् वे जो शब्द बतावें, वे सत्य व स्वयं अनुभव पर आधारित हो। (२) गुरु में अपने शिष्य की सुरत को प्रभावित करने की सामर्थ्य होनी चाहिऐ। पूरे गुरु की सब सुरतों तक पहुँच है और चूँकि अंतर के अन्तरगत सब सुरतें बा-होश और चैतन्य हैं, इसलिए वे सुरतों पर असर पहुँचा सकते हैं। अन्तर के अन्तरगत सब सुरतों के बा-होश और चैतन्य होने का सबूत यह है कि मालिक को सारी रचना की खबर है और यह तभी हो सकता है जब कि सुरतें बा-होश और चैतन्य हों। अगर सुरतें अन्तर के अन्तर्गत होश की हालत में चैतन्यमय न होतीं तो इस रचना का कोई संचालक और इंतज़ाम करने वाला नहीं

होता। और यह हो नहीं सकता। बिना संचालक और इंतज़ाम करने वाले के तो कोई रचना नहीं हो सकती। सब अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित होता। यह भी नहीं माना जा सकता है कि जिस आध्यात्मिक या रूहानी जंजीर से कुल्ल-मालिक के साथ सब रचना जुड़ी हुई है, वह किसी जगह टूटी हुई हो। यदि ऐसा होता तो परम पिता का विश्व के सभी भागों के साथ आवश्यक पूर्ण सम्पर्क न क़ायम रहता। इसलिये केवल यही बात सही और दुरुस्त है कि अन्तर के अन्तरगत प्रत्येक सुरत बा-होश है और इसीलिए सन्त सतगुरु प्रत्येक सुरत पर अपना असर पहुँचा सकते हैं।

२१६—चलना शुरू करने से पहले निशाना पक्का कर लेना चाहिए यानी कहाँ जाना है, यह तय कर लेना ज़रूरी है। तभी उसकी प्राप्ति के अभ्यास में दिल लग सकता है। उस निशाने पर पहुँचने का पक्का और मज़बूत इरादा उसको अख़ीर तक आगे बढ़ाता रहेगा। बरअक्स इसके, अगर निशाना पक्का नहीं किया है तो रास्ते में किसी न किसी मंज़िल पर रुक जावेगा और धुर धाम तक न पहुँचने पावेगा। अंतिम लक्ष्य या निशाने को निश्चित किए बिना दृढ़ता के साथ जतन में नहीं जुट सकेगा।

२२०—मालिक ने इस बात का बंदोबस्त किया है कि वक्त मुनासिब पर जीव सन्त सतगुरु के सम्पर्क में आवे और सन्त सतगुरु जीव में अपनी उच्चतम चैतन्यता भर दें ताकि जैसे २ जीव की ऊपर के लोकों या मण्डलों

में चढ़ाई हो, मन और माया के देश में उतार होने के समय जो चैतन्यता की पूँजी ख़र्च हो गई थी, वह कमी पूरी होती जावे। अपरंच जिस कमी चैतन्यता से सत्तदेश में होश नहीं प्राप्त हो सकता था, वह कमी भी पूरी हो। इस प्रकार चैतन्य धन या पूँजी मिलने से और सन्त सतगुरु की मदद से सत्तदेश की कठिनतम चढ़ाई का अभ्यास जीव कर सकता है और वहाँ पहुँच कर विश्राम भी पा सकता है।

२२१—जब तक माया देश में निर्धारित समय तक रह कर सब प्रकार के तजरुबे न हासिल कर ले, तब तक जीव को ऊपर बयान की हुई चैतन्य शक्ति और मदद नहीं प्रदान की जा सकती थी। अन्यथा वह बेकार साबित होती। अतः पहले के युगों में जीव पर नीचे ले जाने वाली (अधोगामिनी) प्रबल प्रवृत्ति का इतना प्रभुत्व था कि संत सतगुरु का प्रभाव और उनकी चैतन्यता शक्ति उसके लिए व्यर्थ होती।

२२२—जब कर्म में और कमी आ जाती है और सुरत संत सतगुरु के संपर्क से शक्ति प्राप्त करती है, तब चेतना का स्थान पिंडी मन के स्थान हृदय से हट कर तीसरे तिल यानी निज मन पर हो जाता है। तब उसमें पहले पहल सच्ची भक्ति करने का अधिकार पैदा हो जाता है और उसमें प्रेम पंख निकल आते हैं जो ब्रह्मांड के विशाल क्षेत्र को पार करने के लिए ज़रूरी हैं।

२२३—जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह अच्छी

तरह समझ में आ जावेगा कि उद्धार के लिए मालिक ने जो इन्तज़ाम किया है, उसमें संत सतगुरु के असर का बहुत भारी महत्त्व है। संत सतगुरु द्वारा मार्ग-प्रदर्शन, संत सतगुरु पर विश्वास और उन पर पूरा भरोसा रखना, केवल यही उद्धार का रास्ता है। यह कहने में तो बड़ा आसान लगता है, लेकिन इसके अनुसार अपनी रहनी गहनी बनाना बहुत कठिन है। मन भी उद्धार की कार्रवाई में साथ दे, इसके लिये ज़रूरी है कि उसकी समझ में आ जावे कि इसी में उसकी भलाई और उद्धार है। अभ्यासी भक्त को शुरू से ही यह सब हिदायतें मिल जाती हैं, परन्तु पूर्णतया उनके मुताबिक़ बरतना चार जन्मों में हो सकता है। अन्त में मन भी अपनी हैसियत और दरजे को समझ जावेगा और सुरत से अलग होकर ब्रह्मांड में रह जावेगा और सुरत सत्तदेश में लौट जावेगी।

प्रकरण ५२

जीवों के उद्धार का जो इंतज़ाम मालिक ने किया है, उसमें संत सतगुरु का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है

२२४—जीवों के उद्धार के लिए मालिक ने जो बंदोबस्त किया है, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य संत सतगुरु का है। यह बिल्कुल दुरुस्त है कि संत सतगुरु के प्रभाव

द्वारा ही आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। उनकी मौजूदगी में और उनकी सेवा में रह कर ही तरक़्क़ी बहुत जल्द हो सकती है। जीव के कल्याण की चाह होनी चाहिए क्योंकि बिना चाह के कोई काम नहीं हो सकता और उस चाह को चैतन्य अहार द्वारा संतुष्ट करने के लिये संत सतगुरु का मौजूद होना आवश्यक है। संत सतगुरु के सामने पहले पहल जब जीव आता है तब वह चैतन्य अहार उसको पहले पहल नसीब होता है। असंख्य युगों से सुरत भूखी है क्योंकि स्थूल अहार से सुरत को तो बिल्कुल पोषण नहीं मिलता और मन को बहुत थोड़ा सा मिल जाता है। इतने समय तक मन और तन को अपनी कार्रवाई करने के लिए सुरत ही शक्ति देती रही है। स्वयं सुरत को कुछ अहार नहीं मिलता।

२२५—आध्यात्मिक साधना द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई चेतनता को सुरत की बैठक के स्थान पर एकत्र करने से जीवन क्रियाओं की स्वाभाविक अवस्था क़ायम रखने में जो शक्ति की कमी होती है, उसकी पूर्ति के लिए ऊपर से चेतनता का आना आवश्यक है। संत सतगुरु का संग उसे प्रदान करता है। इसे प्राप्त करना, गुरु सेवा की आवश्यकता के प्रधान कारणों में से है।

२२६—यदि चैतन्य पूंजी का कोई लाभ ऊपर बयान की हुई रीति से या अन्य किसी प्रकार से न हो तो अभ्यासी बहुत नीची अवस्था में पहुँच जावेगा। वह उदासीन, क्रोधी और देखने में आधा पागल हो जाता है, गो वास्तव में वह पागल नहीं होता।

२२७—वैसे जो अभ्यासी संत सतगुरु के सम्मुख रहता है, उसकी तरक़्क़ी भी बहुत धीरे २ होती है। बहुत समय तक तो तरक़्क़ी होती हुई मालूम ही नहीं पड़ती। ऐसा लगता है मानो कोई तरक़्क़ी नहीं हो रही है।

प्रकरण ५३

इस तथा अन्य पृथ्वियों पर संतों के आगमन के तरीक़े

२२८—मामूली तौर पर स्वतः सन्त हृदय या अंतःकरण के घाट पर जहाँ मन की स्थिति है, नहीं उतरते। स्वतः सन्त वह हैं जो अपने आप ही प्रकाशक हैं, जिनको गुरु धारण करने की ज़रूरत नहीं होती। यदि स्वतः सन्त मन के घाट तक उतर आवें तो वहाँ इस क़दर मलीनता और स्थूलता है कि उनको अपने धाम की सुधि न रहे। इसलिए वे मामूली तौर पर छठे चक्र तक ही उतरते हैं। लेकिन इससे उनको जीवों की कठिनाइयों का पर्याप्त अनुभव नहीं हो पाता जिससे वे पूर्ण प्रभावशाली उद्धार कर्त्ता नहीं हो सकते। इसके प्रतिकूल यदि हृदय चक्र तक उतर आवें तो मनुष्य चोले के पूर्ण विकास और संवर्धन में ही अर्थात् चौथे चक्र के नियंत्रण और प्रधानता में नीचे के चक्रों को उचित मात्रा में विकसित करने में उनकी चैतन्य शक्ति कमोबेश खर्च हो जावेगी। चौथे चक्र की प्रधानता का रहना ज़रूरी है क्योंकि अगर नीचे के तीन चक्र बिना चौथे चक्र की अधीनता में रहे हुए, पूरे तौर पर जाग जावें तो पशु प्रवृत्तियाँ बहुत बढ़ जावेंगी

और मनुष्य, मनुष्य की शक्ल होते हुए, पशुओं की तरह बरतने लगेगा।

२२९—पच्चीस वर्ष की उम्र तक कायिक और मानसिक विकास पूर्णता को पहुँच जाता है यानी तन और मन सम्बन्धी सब ताकतें पूरे तौर पर जाग जाती हैं। स्वतः सन्त की सुरत जीवों की साधारण रीति से शरीर धारण करने पर भी किसी प्रकार बद्ध नहीं होती। साधारण जीव की तरह उस पर संचित कर्म का भार नहीं रहता। उस पर केवल धारण किए हुए देह के कर्म होते हैं क्योंकि यह नियम है कि यदि कोई सुरत अवतार लेती है तो उसे शरीर के कर्म को अवश्य भोगना होगा। इसलिये उनकी सुरत अपने आप ऊपर को चढ़ सकती है और चढ़ने लगती है। कुछ ही वर्षों में वे चढ़ाई कर लेते हैं। लेकिन उसका नतीजा यह होता है कि जब वे शरीर के बंधनों से मुक्त होने की अवस्था पर पहुंचते हैं, उस समय उनकी सुरत को रोकने के लिए कोई भी नहीं होता। यदि गुरु धारण करते और शिष्य करते तो उनकी प्रीति रोक लेती। पर चूँकि उन्होंने किसी को गुरु धारण नहीं किया और ख़ुद ने भी चेले नहीं बनाए, इसलिये किसी में प्रेम या बन्धन नहीं होने से उनकी सुरत तुरन्त ऊपर के देशों में चढ़ जाती है। शरीर की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार उनके यहाँ आने से दूसरों के उद्धार की कारंवाई कुछ भी नहीं होती।

प्रकरण ५४

उद्धार की कार्रवाई गुरुमुख द्वारा की जाती है

२३०— इसलिए उद्धार कर्त्ता सन्त जोड़े में आते हैं यानी स्वतः सन्त के साथ उसी क़िस्म की दूसरी सुरत भी आती है जो पिंड में हृदय चक्र तक उतरती है। वह सर्व अङ्ग में परिपूर्ण सुरत होती है। अभ्यास के सर्व अंग पूरी तौर पर करने और उनसे ज्यादा से ज्यादा नतीजा बरामद करने की उसमें पूर्ण योग्यता होती है। अपने गुरु की यानी स्वतः सन्त की सेवा और भक्ति का पूरा नमूना वह सबके सामने पेश करती है। और इससे कहीं ज़्यादा यह बात है कि उसको काल के साथ जो युद्ध करना पड़ता है उसमें वह उस पर विजय प्राप्त करके अन्य भक्तों और शिष्यों के लिए भी काल का मर्दन करना सम्भव और सुगम कर देती है। यदि ऐसा न होता तो उद्धार मुमकिन न था। मनुष्यों की मुसीबतों और कठिनाइयों का तजरुबा हासिल होने से उनके साथ हमदर्दी रहती है। इसीलिये कहा गया है कि जो गुरुमुख सन्त मामूली मनुष्य की तरह शरीर धारण करता है, वह मानव जाति का पूर्ण उद्धारक है। वह सर्वेसर्वा या सर्व समर्थ है। उसके पधारने से सब मनुष्यों को आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त होती है जिसका अनुभव उसके शिष्यों को अधिक होता है।

२३१—कुछ समय तक जागे हुए सन्त या गुरुमुख-

सन्त के शरीर को भारी कमज़ोरी की हालत झेलनी पड़ती है। ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि उनके कुल शरीर की बनावट को पूरे तौर पर बदल देने की ज़रूरत होती है ताकि उनकी सुरत के पूरे तौर पर जाग जाने पर उसके लिए वह उपयुक्त या अनुकूल हो और उस शरीर से जो कुछ उनको करना है, कर सकें। यह क्लांत दशा कई वर्षों तक रह सकती है। लेकिन इसके बाद साधारणतः शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

२३२—स्वतः सन्त और गुरुमुख के साथ जो चैतन्य की धार इस मण्डल में आती है, वह ज़रूरत से ज़्यादा ताक़त वाली नहीं होती। यदि वह अधिक शक्ति शाली हो तो यहाँ के भास रूप में फैले हुए चैतन्य को अपनी ओर आकर्षित कर ले जिससे इस मण्डल का तोड़ फोड़ हो जावेगा। लेकिन तो भी वह काफ़ी ताक़तवर होती है। वह असल में चैतन्य शक्ति की एक लहर है जो परम पिता से आती है और हर समय परम पिता से उसका पूरा सम्बन्ध क़ायम रहता है। वह कभी नहीं टूटता है।

प्रकरण ५५

चार जन्म में उद्धार

२३३—उपदेश ले लेने पर यानी संतों की सरन में आ जाने पर उद्धार निश्चित और पक्का है। किसी प्रकार भी असफलता या पीछे हटना सम्भव नहीं है। पहले

उसको ऐसे तजरुबे या अनुभव कराए जाते हैं जिससे उसको महसूस हो कि मैं किस बे-बसी और लाचारी की हालत में पड़ा हुआ हूँ। जब उसको अपनी अबल और निबल अवस्था का भान होगा तब उसको अंतर में इस बात का भी यक़ीन और विश्वास पैदा होगा कि मेरा उद्धार होगा और अवश्य होगा।

२३४—संतों ने वचन दिया है कि चार जन्म के अन्दर उद्धार की कार्रवाई पूरी करा देंगे। इतनी सी देर का भी कारण यह है कि जीव चाहों से भरा पड़ा है। यदि उन चाहों से मुक्त हुए बिना ही सुरत को चढ़ा दिया जावे तो बाद में वे कामनाएं तंग करेंगी और ऊपर के चैतन्य मंडलों और लोकों के आनंद में आनंदित न हो सकेगा। इसलिए सफ़ाई करने वाले तजरुबों का पूरा होना आवश्यक है।

प्रकरण ५६

प्रथम संत सतगुरु कबीर साहब

२३५— उद्धार की कार्रवाई प्रारंभ करने वाले प्रथम संत सतगुरु कबीर साहब थे जो यहाँ क़रीब सात सौ वर्ष पहले प्रकट हुए। उनके बाद अन्य कई आए। आध्यात्मिक पुनर्जीवन या नई रूहानी ज़िन्दगी बख़्शने के लिए जब जमीन तैयार हो गई तब आगरा में राधास्वामी दयाल ने स्वामी शिव दयाल सिंह सेठ साहब के स्वरूप में अवतार लिया। शिष्यगण आपको "स्वामीजी महाराज" कहते थे।

आपने ही "राधास्वामी" नाम प्रंकट किया था और अब आपका मत या धर्म सर्व साधारण में राधास्वामी मत कहलाता है। आप इस पृथ्वी पर सन् १८१८ से सन् १८७८ ईसवी तक विराजमान रहे।

प्रकरण ५७

इस एतराज़ का जवाब कि जब मालिक सब जगह मौजूद है तो गुरु की क्या ज़रूरत है ?

२३६—कुछ लोग कहते हैं कि जब मालिक सब जगह मौजूद है तो कहीं आने जाने अथवा उसको ढूँढ़ने और पाने के लिए किसी की मदद तलाश करने की कहाँ जरूरत है? इसका जवाब यह है, तुम्हारे अन्तर में अनेक ख़ुदा या ईश्वर या मालिक बैठे हुए हैं और उनमें से हर एक तुम्हारी सेवा और भक्ति पर अधिकार करने को तैयार है और उनकी हद से यदि तुम बाहर जाने लगो तो तुमको जाने न देंगे। जब तक कि पहले से तुमको उन सब के बारे में न बतला दिया जावे, उनकी पहचान तुम कैसे कर सकते हो और कैसे ठीक रास्ते पर अपने क़दम जमाए रख सकते हो ? तुम दुश्मनों के देश में पड़े हुए हो ? मन इन दुश्मनों में प्रधान है। सब कारख़ाना तुम्हारी पूँजी से चल रहा है। खास करता धरता वह है। तुमको कुछ अख़्तियार नहीं। जेलख़ाने में हो। तुम्हारा बहुत नीचे उतार हो गया है। बिना किसी की मदद के सिर्फ अपनी कोशिश

से, तुम्हारे निकलने और छुटकारा पाने की कोई उम्मीद नहीं है। जो सब का मालिक है, कुल्ल-मालिक है, वह भी तुम्हारे अंतर में मौजूद है। लेकिन सिर्फ़ इसी समझौती से क्या हो सकता है? जब तक कि छुटकारा पाने के उपाय जो कुल्ल-मालिक ने बतलाए हैं, तुम काम में न लाओ तब तक कुछ नहीं हो सकता।

अध्याय ४

आध्यात्मिक उन्नति

प्रकरण ५८

अधिकारी जीवों के लक्षण

२३७—संत सतगुरु की दया और मदद प्राप्त करने का अधिकार जिस जीव में पैदा हो गया है, उसके लक्षणों के विषय में यहाँ कुछ कहा जावेगा।

२३८—इसके पहले कि जीव संत सतगुरु की सहायता से लाभ उठा सके या उस सहायता को लेने के लिए तैयार हो और उनकी हिदायत और मौज के अनुसार बरत सके, दो चीज़ें अनिवार्य हैं। पहली तो यह कि जीव को महसूस होने लगे कि मैं अपने जतन और कोशिश से कुछ नहीं कर सकता क्योंकि जब तक वह यह समझता है कि मैं अपने प्रयत्नों द्वारा परमार्थ का फल प्राप्त कर सकता हूँ, वह कभी भी संत सतगुरु की रहनुमाई अख़्तियार नहीं करेगा। दूसरी यह कि जो कर्म की प्रेरणा करने वाली प्रवृत्तियाँ रही हैं, उनमें काफ़ी थकाव और कमी पैदा हो जानी चाहिए, ख़ास कर आदि कर्म की, जिनका उन्मूलन करने के लिए वह नीचे के देशों में आया। पशुओं में इस क़िस्म की प्रवृत्तियाँ पूरे तौर पर

साफ़ दिखलाई देती हैं। पशु लगभग स्वयं चलने वाली मशीन की तरह होता है। इसका व्यवहार क़रीब २ पूरे तौर से उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार होता है। उसमें बुद्धि का दख़ल कम से कम होता है। उसके बच्चों को सिखलाने की ज़रूरत नहीं होती। सब आवश्यक ज्ञान उसमें पहले से ही क़ुदरतन (स्वयं) मौजूद होता है। इस प्रवृत्ति और ज्ञान के स्रोत को इंसटिंक्ट (स्वाभाविक बुद्धि) कहते हैं। इंसटिंक्ट की प्रबलता के कारण अधिकांश पशु शिक्षण से लाभ उठाने में असमर्थ हैं।

२३९—मार्ग प्रदर्शन या रहनुमाई सम्भव होने से पूर्व, मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ थकित हो जानी चाहिए। ये प्रवृत्तियाँ रस्सियों की तरह हैं जो जीव को किसी विशेष स्थिति में जकड़े हुए हैं। वह चाहे या न चाहे, उसका रुख़ और झुकाव उन्हीं प्रवृत्तियों के अनुसार बनता है। वह कभी भी पूरे तौर पर संत साध महात्माओं की रहनुमाई, जो उद्धार के लिए ज़रूरी है, नहीं ग्रहण कर सकता।

२४०—सांसारिक जीवन द्वारा प्रवृत्तियों में थकाव पैदा होता है और मनुष्य में विवशता की भावना उत्पन्न होती है। सक्रिय, अग्रगामी तथा सांसारिक दृष्टि से सफल जीवन उद्देश्य नहीं है, बल्कि उन प्रवृत्तियों के दूर होने और जीव के सुधार के ज़रिये हैं। जैसा कि साधारणतः समझा जाता है, ये गुण वास्तविक उन्नति के लक्षण नहीं हैं।

२४१—बड़ी दिमाग़ी ताक़तें और कार्रवाइयाँ जिनका लवाज़मा सांसारी जीवन के आदर्शों की गहरी महिमा है, मसलन दुनिया की नीति और धर्म का पालन करना, अपने कर्त्तव्य और फ़र्ज़ को अदा करना, अपनी ज़िम्मेदारियों का ख़्याल रखना और उनको पूरा करना, मर्यादा रखना और पालना और उन आदर्शों के अनुसार दूसरों से भी हठ पूर्वक कराना और मनवाना वग़ैरा वग़ैरा ऐसी सिफ़तें हैं कि उनके होते हुए वह दीनता और आज्ञाकारिता आ ही नहीं सकती जो कि संतों के उपदेश और रहनुमाई ग्रहण कर सकने के लिये ज़रूरी है।

२४२—दुनियादार के दिल में जितने ख़याल पैदा होते हैं, उन सब में अपना मतलब और ग़रज़ होती है। अंत में वह हर एक चीज़ की नाप तोल उसी से करता है। उसके सब कामों का प्रेरक, अपना मतलब निकालने का ख़याल है। अभ्यासी भक्त को इस प्रवृत्ति को जड़ से उखाड़ फेंकने की कोशिश करते रहना चाहिए। और यह तभी हो सकता है जब कि अपनी मर्ज़ी को गुरु की मर्ज़ी यानी मौज के अधीन कर दे। जो गुरु हुक्म दें वही करे। जब आपा या अहंकार का नाश होगा, तब समझ में आवेगा कि मालिक कितना भारी उपकारी और दयालु है और तभी सुरत में यह योग्यता पैदा होगी कि वह मालिक से मिल सके। जब आध्यात्मिक सूर्य उदय होगा, तब आपा या अहंकार पिघल जावेगा। और तभी जीव हैरत यानी विश्व व्यापी प्रेम करने के योग्य होगा क्योंकि ऐसा प्रेम

मुकम्मिल (पूर्ण) होने के लिए उसका निःस्वार्थी होना ज़रूरी है।

२४३—जिन जीवों में नीचे दरजे की प्रवृत्तियों और कामनाओं का बाहुल्य है, उनके सिर पर दुनिया सवार है यानी उसमें पूरी सरगरमी से बरत रहे हैं। यही प्रवृत्तियाँ और कामनाएँ शुरू में उनको नीचे माया देश में उतार कर लाई थीं। सामाजिक और नागरिक सुधार के कामों में जिन्होंने अपनी ज़िन्दगी बड़े जोश के साथ लगा दी है, वे इसी क़िस्म के जीव हैं। जब तक कि वह ताक़त न क्षीण हो ले, तब तक उनमें सच्ची अंतरी परमार्थी तरक़्क़ी का अधिकार नहीं पैदा हो सकता। जो काम वे इस समय कर रहे हैं, वही काम कुछ काल तक करते रहेंगे। करते करते, अन्त में इन्द्रियों के भोग विलासों के शिकार बन जावेंगे क्योंकि दुनियावी ताकतों और प्रवृत्तियों को जगाने और बढ़ाने से इस क़िस्म की फिसलन के मौके बहुत मिलेंगे। उनकी चैतन्यता बहुत कम हो जावेगी। ऐयाशी और कामुकता के गहरे गड्ढे में उतर जावेंगे और तब उनमें इतनी चैतन्यता भी न रह जावेगी कि मनुष्य चोला मिल सके।

प्रकरण ५९

नीचे की योनियों में उतार

२४४—ऊपर वर्णन किया हुआ उतार इस प्रकार होता है। मनुष्य की कार्रवाइयों की शक्तियां उन चक्रों

से आती हैं जो इस चोले में बने हुए हैं और उन चक्रों का संबंध रचना के भिन्न भिन्न मंडलों या लोकों से है जो रचना में व्याप्त और उसी किस्म की शक्तियों के केन्द्र हैं। नीचे के तीन चक्र यानी गुदा इन्द्री और नाभि चक्र में स्थूल शरीर की कार्रवाइयों की शक्तियाँ हैं और वे केवल शरीर को स्वस्थ अवस्था में क़ायम रखने का इंतजाम या बंदोबस्त करते हैं। ये वह चक्र हैं जो मुख्यतः पशुओं की कार्रवाइयों के आधार हैं। एतदाल के दरजे या हद से अधिक जब मनुष्य नीच प्रवृत्तियों और वासनाओं आदि में बरतने लगता है, तब इन नीचे के चक्रों की शक्तियाँ ज्यादा काम में आती हैं जिसका फल यह होता है कि उन चक्रों और ताक़तों से उसका सम्बन्ध बढ़ता जाता और मजबूत होता जाता है। अंत में नीचे की ओर रुख़ होकर पशु योनि में चला जाता है। मनुष्य चोले में रहने के लिए इतनी चैतन्यता होनी चाहिए कि सुरत छठे चक्र पर ठेका ले सके। लेकिन अगर मायक कार्रवाइयों में इन्सान इस क़दर लीन हो गया है और नीचे दरजे की ताक़तों से इतना मज़बूत ताल्लुक पैदा हो गया है कि उसकी सुरत छठे चक्र पर नहीं ठहर सकती तो नीची योनियों में उसको अवश्य उतरना पड़ेगा। मनुष्य चोले से उतार होकर अन्य योनियों में जन्म होने का यही ख़ास कारण है।

२४५—पशुओं के साथ कैसा बरताव किया जाता है, यह विदित है। दया और करुणा तो दूर, उमूमन इस बात का भी लिहाज़ नहीं रक्खा जाता कि पशु में भी जान है।

इसलिये पशु योनियों में कुछ समय तक चक्कर काट लेने के बाद पशु प्रवृत्तियों और मलीन वासनाओं का नाश हो जायगा और तब जीव फिर मनुष्य चोले में जन्म लेंगे।

प्रकरण ६०

कर्मों का भुगतान शुद्धि या सफाई के लिए है, न कि सज़ा

२४६—यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि वह सज़ा जो किसी भूले हुए गुनाह या ग़लती के लिए दी जावे, उससे उसके देने की मसलहत नहीं बरामद हो सकती। याद रखना चाहिए कि कर्मों का भुगतान दण्ड या सज़ा नहीं है। बल्कि शुद्धि और सफ़ाई है। जिस हालत में जैसी आवश्यकता हो, उसके अनुसार स्वभाव को बदलना और बनाना, यह उद्देश्य है। मिसाल के तौर पर जिस आदमी में परमार्थ की ओर कुछ रुझान और रुचि है, मुसीबत और तकलीफ की ज़िंदगी से उसमें दीनता पैदा होगी और उसका स्वभाव इस तौर से बदलेगा कि सन्त साध, महात्मा के उपदेशों को ग्रहण कर सके और ख़ुश होकर उनकी मर्ज़ी और मौज पर रहने लगे। अन्य प्रकार के मनुष्य पर इन्हीं मुसीबतों और सख्तियों से अन्य प्रकार का असर पैदा होगा। जो जीव अभी कर्मों के पूरे बहाव और चक्कर में चल रहा है, उसमें मुसीबतों और तकलीफ़ों से ग़ुस्सा और द्वेष बढ़ सकता है। लेकिन यह सब ग़ुस्सा और

कठोरपन और इस तरह् की बातें, कर्मों के भोगने और कटने से जाती रहेंगी।

प्रकरण ६१

मौजूदा जिन्दगी में पहले जन्मों की बातों के न याद रहने का कारण

२४७—वर्तमान जन्म में पूर्व जन्मों की याद न रहना जरूरी है, वरना वर्तमान जीवन की कार्रवाई जैसी वह पूर्व जन्मों की भूल में हो रही है, नहीं हो सकती थी। उदाहरणार्थ इसी जन्म में भी कोई समझ बूझ की उम्र को पहुंच कर बे-समझी या कम-समझी की उम्र में जैसे खुल खेलता था, वैसे नहीं बरत सकता। जिन कामों में पहले मन लगता था, उनको कामियाबी के साथ अंजाम देने के लिए क्या अब भी उतनी ही भरपूर तवज्जह दे सकते हो? कदापि नहीं। कारण यह कि जिन चीज़ों को पहले तुम महत्त्व दिया करते थे, उन्हीं चीज़ों को तुम अब तुच्छ और ग़ैर-ज़रूरी ख़याल करने लगे हो। लेकिन कर्मों का दफ़्तर ख़त्म करने के लिए यह जरूरी था कि जिस तरह तुमने जिन्दगी गुज़ारी और बिताई है, उसी तरह से करना था। यही बात पहले जन्मों की बातें याद रखने के सम्बन्ध में भी लागू है।

२४८—यदि बीते हुए जन्मों की बातें याद रहें तो उनसे सम्बन्ध रखने वाली भावनाओं से तुम्हारे इस जीवन के कार्य अवश्य प्रभावित होंगे। मान लो इस जन्म में जो

तुम्हारी मां है, वह पिछले जन्म में तुम्हारा बेटा था। अगर पिछले जन्म का हाल याद रहता तो क्या तुम अपनी मां के प्रति उचित श्रद्धा भक्ति रख सकते ?

२४९—कर्म की शक्तियों के बिलकुल थकित होने के लिए यह ज़रूरी है कि समय समय पर पर्दा पड़ता रहे यानी भुलावा पैदा होता रहे। वरना इन ताक़तों में ज्यों २ कमी आवेगी, जन्मानजन्म में भुगते हुए जीवन संग्रामों और कष्टों की याद से जीव ऐसी थकान महसूस करने लगेगा कि आइन्दा जीवन असंभव हो जायगा। बुढ़ापे में मौत के नज़दीक पहुँचते २ अक्सर आदमी जिन्दगी से ऊब और थक जाता है लेकिन जवान आदमी के दिमाग़ में चूँकि अभी उसने जीवन संग्राम शुरू ही नहीं किया है, किसी क़िस्म की ना-कामियाबियों और धक्कों की याद का ज़खीरा नहीं होता। वह ताज़ा और नई हिम्मत के साथ दुनिया का मुक़ाबला करता है।

२५०—जिस ताक़त ने शुरू में जीव को नीचे की रचना में भेजा था, उस ताक़त में और पिछले कर्मों के प्रभाव और प्रेरणा में जब काफी थकान पैदा हो लेगी तब जीव में वह दीनता और सन्तों के उपदेश ग्रहण करने की योग्यता आवेगी जो उसकी रूहानी तरक्की के लिये ज़रूरी है।

२५१—इसलिये यह ख्याल करना ग़लती की बात है कि भारत एक गिरा हुआ और पिछड़ा हुआ देश है और उसकी राजनैतिक पराधीनता घोर दुर्भाग्य है। जिन लोगों

पर पश्चिम देश की शिक्षा का गहरा असर पड़ा है, वे लोग इस तरह की बातें करते हैं और ऐसे ख़याल़ात को औरों में भी फैलाते हैं। पश्चिम देश की सभ्यता के रंग में रँगे हुए इन ग़लत ख़यालों और बातों का कुछ अरसे से भारतवर्ष में बड़ा ज़ोर शोर है जिसने उसके प्राचीन और परम्परा से प्राप्त शुद्ध और सच्चे विचारों को दबा दिया है। इन तुच्छ बातों से नज़र हटा कर अगर बड़ी, सच्ची और महत्त्वपूर्ण बातों के लिहाज़ से यानी असत्य और मायक दृष्टि के बजाय सत्य और पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि पृथ्वी की कुल जातियों और देशों में भारतवर्ष सब से उन्नत देश है और उसकी राजनैतिक पराधीनता फ़िलहाल सबसे बड़ा वरदान है।

२५२—सांसारिक दृष्टिकोण से अकबर बादशाह एक बुद्धिमान और दूरदर्शी शासक था क्योंकि शासन करने के मौलिक सिद्धांतों को वह ख़ूब जानता था। उसने यह राजनीति अपनाई कि बिना मज़हब या धर्म का पक्षपात किए, सबके साथ समान रूप से बरता जावे। यदि यह नीति सफल हुई होती तो निस्संदेह हिंदू और मुसलमान मिल कर एक राष्ट्र हो गए होते। लेकिन सौभाग्य से इस दिशा में जो कुछ उसने किया था, उसको औरंगजेब ने मटियामेट कर दिया। सौभाग्य से इसलिए कहा कि भारत की राजनैतिक पराधीनता के लिए औरंगजेब ने रास्ता बना दिया और यह हिंदुस्तान के आध्यात्मिक पुनर्जीवन के लिए आवश्यक था। यदि राजनैतिक स्वाधीनता से हिन्दुस्तान भौतिक उन्नति के मार्ग पर चला होता तो

उसका भी वही हाल होता जो कि पश्चिम देश का हो रहा है। जो आध्यात्मिक उन्नति इस वक्त भारतवर्ष की हो रही है, वह न हो सकती थी।

प्रकरण ६२

हिन्दुस्तान और पश्चिमी देश

२५३—भारतवर्ष और पश्चिमी देशों के मनुष्यों के साधारण स्वभाव में मौलिक भेद यह है। कि भारतवर्ष के अधिकांश मनुष्यों पर पश्चिमी देशों की अपेक्षा भौतिक जीवन के मूल्यों और आदर्शों का बहुत कम प्रभाव है। उन पर मन और काल की पकड़ अथवा मानसिक चंचलता बहुत कमज़ोर हो गई है और वे आध्यात्मिक शिक्षण से लाभ उठाने के लिए अधिक तैयार हैं।

२५४—इसे अच्छी तरह समझने के लिए यह मिसाल दी जाती है। वे हिन्दुस्तानी जो ऊँचे ओहदों के और दुनियावी तरक़्क़ी के ख़्वाहिशमंद हैं, योरप निवासियों का सा रहन-सहन अख़्तियार करने की कोशिश करते हुए नज़र आते हैं। वे लोग हर वक़्त किसी न किसी काम में मशग़ूल रहते हैं और उनकी सारी तवज्जह उसी में लगी रहती है। परमार्थ या जीव के कल्याण के लिए उनके पास वक़्त नहीं बचता। लेकिन अंग्रेज़ों का अनुकरण करने में भारतियों को बड़ी दिक़्क़त यह है कि उनमें अंग्रेज़ों के मानसिक गुण नहीं हैं। अंग्रेज़ और पश्चिमी देशों के वासी नीचे की ओर बहाने वाली धारा में पूरे तौर से बहे चले जा रहे

हैं। उन लोगों का यह हाल है कि मरते दम तक दुनिया में उनको बड़ी दिलचस्पी और शौक़ रहता है। अस्सी वर्ष का आदमी भी कोई नई भाषा या नई सायंस सीखने लगे तो उसको अच्छा समझते हैं। उसके लिऐ काम ही सब कुछ है। वह जानता है कि जल्द ही उसको वह काम छोड़ना पड़ेगा, मगर फिर भी सिवा दुनिया के किसी और चीज़ में यानी परमार्थ में उसको शौक़ नहीं आता। इसे आध्यात्मिक पक्षाघात कहा जा सकता है।

२५५—जिस तरक़्क़ी का ऊपर ज़िक्र हुआ है, वह एक आम हिंदुस्तानी के लिए स्वाभाविक नहीं है और इसलिये जब इस तरह का ढंग ज़बरदस्ती अख़्तियार करता है तो उसमें साधारण हिंदुस्तानी को यथेष्ठ सफलता नहीं मिलती। वह उसे जीवन के विभिन्न कामों में लाने की कोशिश करता है यानी ऐक अंग्रेज की तरह पोशाक पहनता है, खाना खाता है, वग़ैरा। वह यह सब इस आशा में करता है कि वह भी स्वभाव में अंग्रेज़ों के समान हो जायगा। यह उसके लिए स्वाभाविक नहीं है। औसत दरजे के हिन्दुस्तानियों के कर्म काफ़ी मात्रा में क्षीण हो हो चुके हैं। अंग्रेज़ों की तरह हिन्दुस्तानी कर्मों के पूर्ण प्रवाह में नहीं है। एक अंग्रेज़ इतनी ताक़त के जोश से भरा हुआ होता है कि वह उसको मुश्किल से रोक कर रख सकता है। लेकिन उस सबका रुख़ दुनिया के कामों की तरफ़ होता है। इसके प्रतिकूल, आध्यात्मिक बात पर अधिक ध्यान देना भारतीय के लिए स्वाभाविक है। इसलिये योरपीय लोगों की नक़ल में हिन्दुस्तानी को असुविधा

होती है और उसे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर जबरदस्ती करनी पड़ती है ।

२५६—ज्यों ज्यों पश्चिम देशवासियों के कर्म क्षीण होते जावेंगे, यह फ़र्क़ कम होता जावेगा और पूर्व देश का पश्चिम देश पर और पश्चिम का पूर्व पर असर पड़ेगा। बहुत से हिन्दुस्तानी पश्चिम देशों में जन्म लेंगे और पश्चिम देश वासी यहाँ जन्म लेंगे ।

२५७—यदि पश्चिम देश वासियों का सा स्वभाव हिन्दुस्तानियों का भी होता तो जो अवस्थाएँ यहाँ हैं, वह नहीं होती। मान लो कि इंगलिस्तान या अमेरिका या योरपीय महाद्वीप पर किसी विदेशी जाति या राष्ट्र का राज्य हो जावे तो चाहे वह करुणापूर्ण ही क्यों न हो, वहाँ के रहने वाले विदेशी हुकूमत का ऐसा विरोध करेंगे और बार बार इतने राज विद्रोह होंगे कि उस विदेशी राज्य का जारी रहना ना-मुमकिन हो जायगा। पश्चिम देश वासियों में अपने अधिकारों की रक्षा, किसी के रोब में न आना, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मनमानी करने की आज़ादी के ख़यालात इतने गहरे जमे हुए हैं कि यदि ज़बरदस्ती से बाहरी हुकूमत उन पर आ जावे तो बराबर झगड़े फ़िसाद खड़े करते रहेंगे और इनके असर से सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रण टूट जावेगा ।

२५८—आम तौर पर और इस देश के रहने वालों में से बड़ी संख्या के लोगों के विषय में कहा जा सकता है कि ऊँचे दरजे की मायक सभ्यता से जो बौद्धिक उन्नति हो सकती है, वह उनको बहुत पहले ही प्राप्त हो चुकी

थी। उस तरक़्क़ी और सभ्यता ने जो बुरे असर पैदा किए थे, उसे हिन्दुस्तानी भुगत कर अब घिस घिस कर मिटा रहे हैं। बौद्धिक विकास, कठोरता तथा अपने को पूरा मानने का ख़याल पैदा करता है। यह रूहानी असर ग्रहण करने की क़ाबलियत नाश कर डालता है। इन चीज़ों को जिन्हें यहाँ गुण समझा जाता है, तोड़ फोड़ कर क़तई निकाल देना चाहिए। और यही हो रहा है। भारतियों की दरिद्रता, उनकी हीनता का द्योतक नहीं है। सांसारिक ऐश्वर्य की वृद्धि उनके लिये घोर दुर्भाग्य होगी। ग़रीबी उन्हें अध्यात्म प्राप्त के लिए विवश कर रही है और अधिकाधिक करती रहेगी।

२५९—पश्चिम देश वालों के मन और चित्त का जो रुख़ है, उससे बिल्कुल उलटा रुख़ पैदा करने की ज़रूरत है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है और फिर भी बार बार कहा जाता है कि जीव को महसूस होना चाहिए कि वह यहाँ किस लाचारी की हालत में पड़ा है। इसी में इसकी रूहानी तरक़्क़ी होना मुमकिन है। परमार्थ के रास्ते पर जीव अपनी कोशिश से एक क़दम नहीं चल सकता। जब तक जीव को इस बात का निश्चय न हो ले और अपनी कोशिश छोड़ कर संत सतगुरु की रहनुमाई पूरे तौर पर मंज़ूर करने के लिए तैयार न हो, तब तक आगे नहीं बढ़ सकता।

२६०—भारतवर्ष में भी ऐसे जीव हैं जिनमें पश्चिम की ही भावना बलवती है। वे भारतीय नीति को पश्चिमी

ढाँचे में ढालना चाहते हैं और इसी में देश का उद्धार समझते हैं। इससे ज़ाहिर होता है कि पश्चिमी देश में शिक्षा पाए हुए और वैसे ही स्वभाव वाले जीवों ने यहाँ जन्म लिया है जिससे यहाँ सम-तुलन अवस्था क़ायम रहे यानी भौतिक जीवन के लिए जिस क़दर पश्चिम देश के तरीक़ों तथा विचार और कार्य की विधियों की आवश्यकता है, उनका उस हद तक यहाँ प्रचलन और प्रचार हो।

२६१—अपने अधिकार को दृढ़ता से पेश करना, उसको मनवाना, उसके लिए बहस करना, हठ करना, प्रचलित आदर्शों के अनुसार जो चीज़ें मिलनी चाहिएँ, उनमें से प्रत्येक को प्राप्त करने के लिए ज़ोर देना इत्यादि ऐसी बातें हैं जो पश्चिम देश में रहने वालों के स्वभाव में कूट कूट कर भरी हुई हैं। उस बे-बसी की उनको ख़बर ही नहीं जिससे कि जीव को सिवाय उसके जो (मालिक की तरफ़ से) उसको बतौर दान के मिले, लेने के कोई चारा नहीं और जिसके बाबत वह अच्छी तरह जानता है कि वह कोई बदला नहीं चुका सकता।

२६२—मालिक यही चाहता है कि ऐसा रुख़ और धारणा पैदा हो। तभी वह देगा और दिए जावेगा यहाँ तक कि सब कुछ दे देगा और वह अपने आप को भी दे देगा। सब कुछ छोड़ देने से ही मालिक मिलेगा और जब मालिक मिल गया तो फिर बाक़ी क्या रह गया? सब कुछ मिल गया।

२६३—अगर मालिक पश्चिम देश में अवतार ले

और अपने को ज़ाहिर करे तो वहाँ के लोग उसका कैसा स्वागत करेंगे ? उसको पागलख़ाने में बन्द कर देंगे। मालिक का भेद बतलाया जाय इसकी वहाँ गुन्जायश नहीं है। चमत्कार या करामात के तौर पर कुछ दिखाया जावे तो वे लोग थोड़े बहुत आकर्षित हो सकते हैं और वह भी केवल अल्प समय के लिए क्योंकि इस तौर पर आया हुआ भाव टिकाऊ नहीं हो सकता।

प्रकरण ६३

भारतवर्ष ही पृथ्वी पर वह भूमि है जहाँ अध्यात्म का पोषण होता है

२६४—भारतवर्ष सदा से इस पृथ्वी पर अध्यात्म के पोषण का स्थान है और रहेगा। हिन्दुस्तान ही को यह महत्त्व और प्रतिष्ठा प्राप्त है। न सिर्फ़ संतमत का भेद देने वाले ही तमाम संत साधु महात्मा यहाँ जन्म लेते आए हैं बल्कि संसार के अन्य प्रसिद्ध धर्मों के आचार्यों ने भी यहीं आकर शिक्षा दीक्षा प्राप्त की है। मुसलमानों में जो आला दरजे के फ़कीर हुए हैं, वे सब हिन्दुस्तान में आए और कुछ अरसे तक यहाँ रहे थे। कहा जाता है कि व्यापार के सिलसिले में मुहम्मद साहब भी हिन्दुस्तान आया करते थे और उनको पहला इलहाम * यहीं हुआ था। इस बात के भी प्रमाण हैं कि ईसामसीह ने योग साधना हिन्दुस्तान में की थी।

* मन में ईश्वर की ओर से कोई बात प्रकट होना। दैव वाणी। आकाश वाणी।

२६५—यह सच है कि दुनियावी सामान की वृद्धि और उन्नति के लिहाज़ से हिन्दुस्तान की इस समय बहुत गिरी हुई और ख़राब हालत है। वह ऐसी हालत पर पहुँच गया है कि बिना आमदनी के ज़रिये बढ़ाए हुए अब उसका काम नहीं चल सकता। व्यापार और कल कारख़ानों की उन्नति के लिए जतन और कोशिश करना प्रशंसनीय है और जो लोग यह काम कर रहे हैं, वे धन्यवाद के पात्र हैं। उनका उत्साह बढ़ाने की ज़रूरत है। हाँ, ज़रूरत से ज्यादा मायक उन्नति न हो जावे, इसके लिये हमेशा ऐसी शक्तियाँ काम करती रहेंगी जिनसे ब्रेक या रोक लग जावे। सब प्रयत्न करने पर भी भारतवर्ष भौतिक दृष्टि से तब तक महान नहीं होगा जब तक कि उसका आध्यात्मिक उत्थान न हो अर्थात् जब तक कि यहाँ के निवासी भौतिक उन्नति को आध्यात्मिक उत्थान की तुलना में बिल्कुल गौण या तुच्छ न समझें। तब वह केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सब प्रकार से शक्तिशाली हो जायगा। संसार उसकी महत्ता को स्वीकार करेगा और उसका सम्मान करेगा क्योंकि रूहानी ताक़त या आध्यात्मिक शक्ति का प्रभुत्व सबको मानना पड़ता है। आध्यात्मिक उन्नति होगी तो उसके पीछे दुनिया के सामान और सुख आराम तो आप ही आप कुदरती तौर पर पैदा हो जावेंगे। रूह यानी सुरत सार है और माया केवल छाया है। क़ायदा है कि सार वस्तु के पीछे-पीछे छाया चलती है, न कि छाया के पीछे सार वस्तु चले जैसा कि इस समय पश्चिम देश में हो रहा है।

२६६—कहावत है कि अगर तुम माया के पीछे दौड़ोगे तो वह तुम से दूर भागेगी और अगर तुम रूहानी ताक़त से सीधे खड़े रहोगे तो वह तुम्हारे पाँवों तले पड़ेगी। यह कुछ मुबालिग़ा अर्थात् अत्युक्ति पूर्ण बात नहीं है, बल्कि अक्षरशः सत्य है क्योंकि यही माया का नियमित मार्ग है। ऊपर के दरजों में माया की बुद्धियुक्त अलग व्यक्ति है। सिर्फ़ पिंड के घाट पर उसका रूप, जड़ और बुद्धि रहित हो गया है। माया को स्त्री कहने का कारण यह है कि उसमें स्त्रीत्व प्रधान है और काल में पुरुषत्व।

२६७—माया का अस्तित्व निरानिरी सुरत पर मुनहसर है। माया स्वयं धूल की तरह ख़ुश्क और सूखी है। सुरत के संग के प्रताप से उसमें इतनी चेतनता आती है कि मन के लिए रस और आकर्षण मुहैया कर सके। इसलिए उसने यह ढंग अख़्तियार कर रक्खा है कि किसी न किसी प्रकार सुरत को अपनी ओर खींचे और यह भली प्रकार इसी तौर हो सकता है कि जब सुरत उसके पास आने लगे, तब वह उससे दूर भागे। इस प्रकार सुरत उसका पीछा करती है। और न केवल साधारण रीति से ही पीछा करती है बल्कि ग़रमा गरमी से पीछा करती है। पश्चिमी देशों में यही हो रहा है। नतीजा यह होता है कि और नीचे उतार होता जाता है। जैसे २ सुरत पीछे दौड़ती है, वह अधिकाधिक माया के पदार्थों में फँसती चली जाती है। इस तरह छाया यानी माया अग्रसर हो रही है जब कि होना चाहिए मूल वस्तु यानी सुरत को।

हर हालत में माया को सुरत के साथ तो रहना ही पड़ेगा। फ़र्क सिर्फ यह है कि बजाय सुरत के पाँवों के तले रहने के वह इस वक़्त दूर २ रहती है।

२६८—बर-अक्स इसके आध्यात्मिक बल से जब सुरत सीधी खड़ी रहती है यानी जब रूहानी सूरज पूरे उरूज पर होता है और सुरत उससे नीचे आने वाली चैतन्य धार के सीध में आ जाती है तो हालत बिल्कुल बदल जाती है। उस वक्त माया के लुभाव का सुरत पर कुछ असर नहीं हो सकता। लेकिन माया को तो सुरत द्वारा चैतन्यता प्राप्त करने की जरूरत रहती ही है। इसलिए माया, सुरत के चरनों में रहेगी ताकि सुरत के साथ २ लगे रहने और पीछे २ चलने में उसे कुछ चैतन्य धार का आहार मिलता रहे। इस रूपक अलंकार द्वारा एक महान सत्य का परिचय दिया गया है। यह निश्चित और पक्का है कि कोई भी क़ौम या जाति जो रूहानी ताक़त बढ़ाने में अग्रसर होगी, उसकी इज्जत और ताज़ीम सारी दुनिया करेगी।

२६९—लेकिन दुनिया के राष्ट्रों में अग्रगण्य समझे जाने के लिए अथवा राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए बल प्रयोग, राधास्वामी मत के आचार्यों और अनुयायियों की दृष्टि में घृणास्पद और वीभत्स कार्य है। परम पिता अपने बच्चों के साथ जबरदस्ती या सख़्ती नहीं करता। इसलिए परम पिता के बच्चे भी आपस में

बल प्रयोग नहीं कर सकते हैं, अगर वे उसके मार्ग पर चलने की वास्तविक भावना से प्रेरित हों। सख़्ती और ज़बरदस्ती काम में लाने से परमार्थी की चाल चलना बन्द हो जावेगी क्योंकि जहाँ सख़्ती और ज़बरदस्ती है वहाँ प्रेम पैदा नहीं हो सकता, न प्रेम की वृद्धि हो सकती है और बिना प्रेम के एक क़दम आगे बढ़ना ना-मुमकिन है। प्रेम को बढ़ाते २ प्रेम की पूर्ण अवस्था को प्राप्त करना ही तो परमार्थी का ध्येय है। प्रेम ही मालिक का एक मात्र अस्त्र है। जो मालिक के सच्चे सेवक और भक्त हैं, वे भी सिवा प्रेम के कोई हथियार नहीं इस्तेमाल कर सकते।

२७०—ऐसे भक्तों को सौभाग्य से दुनिया के सामान की तुच्छता और असारता पग पग पर दिखलाई देती है। वे समझने लगते हैं कि यहाँ की कोई चीज़ हमेशा क़ायम रहने वाली नहीं है। सब बेकार हैं। राज्य और हुकूमतें बनती और बिगड़ती रही हैं, जातियों का उत्थान और पतन होता रहा है। हमेशा से यही हुआ है और आइन्दा भी होता रहेगा। इस विचार से दुनिया और दुनिया के हाल को मालिक की मौज के सुपुर्द करके वे बिल्कुल निश्चित और संतुष्ठ रहते हैं।

२७१—फिर अपने विषय को दोहरा दिया जाता है कि जब जीव के आदि कर्म में काफ़ी थकाव पैदा हो लेगा और ज़रूरी दीनता और रूहानी तरक़्क़ी की प्यास और ग़रज़मंदी आ लेगी तब वह समय सुरत के उद्धार का होगा और उद्धार की कार्रवाई केवल सन्त सतगुरु द्वारा ही कराई

जा सकती है जो कि परम पिता का संदेश लाने वाले और परम पिता के प्रतिनिधि या क़ायम मुक़ाम हैं।

प्रकरण ६४

चैतन्यता बढ़ाने के विभिन्न ज़रिये

२७२—सन्त सतगुरु के संग से तो अभ्यासी भक्त में चैतन्यता का संचार होता ही है, किंतु इसके अलावा और भी ज़रिये हैं जिनके द्वारा उसे चैतन्यता प्राप्त होती है। उपदेश यानी दीक्षा देने के समय संत सतगुरु अपनी उच्चतम चैतन्यता का बीज उपदेशी में डाल देते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में यह बीज रूप चैतन्यता बढ़ती रहती है। संत सतगुरु की देख रेख में वह पुष्ट होती रहती है। चैतन्य शक्ति का एक बड़ा स्रोत इस प्रकार भक्त के अंतर में खुल जाता है।

२७३—जब सुरत की चढ़ाई का वक्त आता है तब वह खोई हुई चैतन्यता को कई प्रकार से पुनः प्राप्त करती है। जैसे जैसे चढ़ाई होती जाती है सुरत ग़िलाफ़ या आवरण उतारती जाती है और इस प्रकार उन ग़िलाफ़ों की सँभाल में जो चैतन्यता सुरत को लगानी पड़ती थी, वह चैतन्यता मुक्त हो जाती है और सुरत की पूँजी में वृद्धि होती है। जैसे जैसे सुरत का माया में उतार होता जाता है, उसके सुप्त बीजों के विकसित होने से सुरत पर तह पर तह या ग़िलाफ़ पर ग़िलाफ़ चढ़ते जाते हैं। बहुत

नीचे उतार हो जाने पर इन तहों या ग़िलाफ़ों की तादाद बेशुमार हो जाती है। हर एक घाट की रचना से संबंध स्थापित करने के लिए उस घाट का यानी उस घाट के मसाले का बना हुआ ग़िलाफ़ सुरत को धारण करना पड़ता है। उदाहरणार्थ ठोस रचना का बोध और ज्ञान प्राप्त करने के लिए ठोस ग़िलाफ़ धारण करना पड़ेगा यानी ठोस मसाले की बनी हुई इन्द्रियाँ हों तो ठोस रचना के साथ संबंध जुड़ सकता है। हर एक ग़िलाफ़ या आवरण के चेतनीकरण के लिए सुरत की चैतन्य पूँजी में बराबर खर्च या कमी होती जाती है। जब इन ग़िलाफ़ों को उतारा जाता है तब वह चैतन्य पूँजी या शक्ति पुनः प्राप्त होती है।

२७४—अब जिन २ मंडलों में होकर सुरत की चढ़ाई होती है, उन मंडलों से भी सुरत को चैतन्य शक्ति प्राप्त होती है। हर मंडल में अपना २ शब्द है। वह भी सुरत की चैतन्यता में वृद्धि करता है। हर एक मंडल से गुज़रने में उस मंडल के धनी या मालिक की काया में से निकलना पड़ता है। और ऐसा करने में सुरत को बहुत बड़ी मात्रा में उस धनी की चैतन्यता मिल जाती है।

२७५—एक मंडल से दूसरे मंडल में चढ़ाई करते वक़्त नीचे के मंडल से ताल्लुक़ रखने वाली नीचे दरजे की चैतन्यता को सुरत छोड़ती जाती है। उस मंडल के ग़िलाफ़ या आवरण जो उतार के समय सुरत ने धारण किए थे, उस मंडल को पार करते समय उसी मंडल में

छूट जाते हैं। उस मंडल की चैतन्यता और उन ग़िलाफ़ों या आवरणों की चैतन्यता एक ही दरजे की होती है यानी दोनों में मुआफ़िक़त होती है। उन आवरणों में जो कुछ चैतन्यता सुरत की फँसी हुई थी, उनको छोड़ देने के कारण, सुरत के नीचे दरजे की चैतन्यता का थोड़ा घाटा होता है। मगर ऊपर के मंडल में पहुँचने पर इस घाटे की पूर्ति हो जाती है क्योंकि ऊपर के मंडल की नवीन चैतन्यता प्राप्त होती है। इस प्रकार होते २ अन्त में वह सब ग़िलाफ़ों या आवरणों से पूर्णतया मुक्त होकर एक महान चैतन्य शक्ति के रूप में पुनः सत्तदेश में प्रवेश पाती है।

प्रकरण ६५

संत सतगुरु की सेवा

२७६—संत सतगुरु की सेवा से मतलब उनकी सेवा में रहने के अलावा उनके उपदेशों और हिदायतों का पालन करना और उनके अनुसार अपना व्यवहार और बरताव करना और जो अभ्यास वे बतलावें उसे लगन और मेहनत के साथ करने से है।

२७७—सेवा से यह नहीं ख़याल करना चाहिए कि उनको किसी बात की चाह या जरूरत है जो कि हमारी सेवा से पूरी होती है अथवा उनमें मान अङ्ग है जो हमारी सेवा से तृप्त होता है। ऐसा ख़याल करना बिल्कुल ग़लत

है। सारी रचना जिनकी ख़िदमत में हाज़िर है, उनके लिए कुछ शिष्यों द्वारा जो सेवा की जावे, उसकी क्या क़ीमत है ? कुछ भी नहीं। शिष्यों के लाभार्थ ही सेवा रक्खी गई है।

२७८—प्रणाम करना यानी बड़ों के सामने श्रद्धा-पूर्वक सम्मान प्रदर्शन करने के लिए झुकना, यह कुल रचना में बरता जाने वाला एक आम क़ायदा है। ग्रह और दूसरे नक्षत्र तथा पिंड और ब्रह्मांड भी अपने ध्रुवों के झुकाव तथा अपने केन्द्र के चारों ओर परिक्रमा के द्वारा उस केन्द्र के प्रति निरंतर सम्मान प्रदर्शित कर रहे हैं। आकाशीय पिंड सचेतन तथा बुद्धि युक्त हस्तियाँ हैं।

प्रकरण ६६

सुरत को ऊपर चढ़ाना

२७९—जिस घाट पर जीव होश हवास रखते हुए काम कर रहा है, उस घाट से ऊपर के घाट पर जाना बड़ा मुश्किल है। अनंत काल से मायक रचना और उसके पदार्थों के साथ रहने और उनमें बरतने से उनका बड़ा गहरा असर जीव पर पड़ा है। उस असर से छूटने के लिए बहुत जूझना पड़ेगा। किसी रंग की रोशनी बहुत मुद्दत तक किसी चीज़ पर डाली जावे तो अन्त में वह चीज़ उस रंग को अल्प परिमाण में ज़रूर ग्रहण कर लेगी।

२८०—इसीलिए संत सतगुरु के संग की महिमा है।

उनके असर से धीरे २ संसार के सब बंधन ढीले होते और टूटते जावेंगे और सुरत ऊपर चढ़ती जावेगी।

२८१—शरीर में भास रूप जो चैतन्य फैला हुआ है उसे ही मामूली जीव खींच सकता है। यह उसका काम है कि वह भास रूप शरीर में फैले हुए चैतन्य को उसके मक़सूस मरकज़ यानी केन्द्र पर खींचे और वहाँ उसको इकट्ठा करे और समूह बनावे। जो भोजन वह करता है उसमें से चैतन्य वह नहीं ले सकता। पर संत सतगुरु ऐसा कर सकते हैं। जो भोजन संत सतगुरु के सामने पेश किया जाता है और जिसका वे भोग लगाते हैं, उसे वे ऊपर उठा देते हैं यानी उसमें जो चैतन्य है, उसे वे ऊपर के घाट पर खींच लेते हैं और फिर उसके द्वारा उन सब पर खिचाव और आकर्षण का असर पहुँचाते हैं जिनका उस भोजन से किसी न किसी रूप में कोई भी संसर्ग या संबंध रहा है।

प्रकरण ६७

प्रसाद और भंडारा

२८२—इसलिये संत सतगुरु के भोग में खाने की चीज़ें रखने और जब वे उसमें से खा लें या चख लें, तब उनको शिष्यों में बाँट देने की प्रथा चली आ रही है। जब संत सतगुरु विराजमान हों, उस समय उनके सामने ऐसा करना भक्ति की एक लाभकारी रीति है। उनके खा लेने से अथवा चख लेने से पवित्र हुई चीज़ जिस किसी को प्राप्त हो, उसके बड़े भाग हैं। इसलिये अक्सर ऐसा किया जाता

है। बल्कि शायद ही कोई दिन ख़ाली जावे, वरना नित प्रति संत सतगुरु के सन्मुख खाद्य पदार्थ रक्खे जाते हैं और उनके चखने के बाद वे शिष्य मंडली में वितरण कर दिए जाते हैं।

२८३—भक्ति की इस रीति से जो लाभ प्राप्त होता है, वह यह है कि इससे आंतरिक सूक्ष्म संबंध स्थापित हो जाते हैं। संत सतगुरु जो खाएँ और पचाएँ उस भोजन का सूक्ष्म प्रभाव उनके द्वारा ऊपर के मंडलों में पहुँच जाता है जिससे जिन लोगों ने कि खाना तैयार किया था अथवा जिनकी कमाई से खाने के पदार्थ लाए गए थे अथवा जिन लोगों ने उसे प्रसाद के रूप में पाया था, उनका सम्बन्ध उन मंडलों से क़ायम हो जाता है। यह असर बहुत भारी होता है, यद्यपि बहुत काल तक इसका पता न चले। ज्यों २ भक्त की चैतन्य शक्ति बढ़ती जाती है, उसे प्रसाद खाने का असर तत्काल मालूम होने लगता है। ऊँचे दरजे के अभ्यासियों को प्रसाद खाने का असर इस रूप में मालूम पड़ता है कि ऊँचे घाट पर सुरत का समूह बने और वहाँ का आनन्द प्राप्त हो।

२८४—जब संत सतगुरु विराजमान न हों, उस समय भी गहरे और सच्चे भक्तों के साथ भंडारा करने से लाभ प्राप्त होता है, यद्यपि कम। भक्तों के साथ रलने मिलने से, उनकी कमाई के पैसे से लाए हुए भोजन के पदार्थों को खाने से अथवा उनके चखे हुए भोजन को खाने से चेतनता बढ़ती है। भक्तों के साथ इस प्रकार रलने मिलने और

मेल जोल बढ़ाने से ही कमज़ोर जीवों की चेतनता बढ़ सकती है। इसलिये परमार्थ के सच्चे ग्राहक ऐसे मौक़ों की प्राप्ति के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं। प्रसाद और भंडारे करने का दूसरा फ़ायदा यह है कि ग़रीबों को खाना मिलता है। यद्यपि ग़रीब आदमियों को वह खाना खाकर अपनी भूख शांत करने से ज़्यादा किसी और बात से सरोकार नहीं, मगर फिर भी संत सतगुरु के साथ ऊँचे दरजे का चैतन्यमय सम्बन्ध तो स्थापित होता ही है जो वक्त मुनासिब पर उनको उन्नत करेगा।

२८५—भोजन खाने से शरीर को और शरीर की क्रियाओं को ताक़त मिलती है। इन्द्रियों द्वारा जो नक़्श या संस्कार ग्रहण किए जाते हैं, उन्हीं से मन को अहार मिलता है और इस प्रकार इच्छाएँ पैदा होती हैं। भोजन से और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किए हुए नक़्श और संस्कारों से केवल वाह्य जगत के पदार्थों का रंग शरीर और मन ग्रहण करते हैं। इसकी जगह आंतरिक और ऊँचे घाटों का रंग प्राप्त होने के लिए यह ज़रूरी है कि शब्द द्वारा अन्तर के और ऊपर के घाटों से सम्बन्ध स्थापित किया जावे। और इसके लिए ज़रूरी है कि किसी ऐसे के संग और सोहबत में रहा जावे जो बाहर के रंग और शब्द से मोड़ कर अन्तर के रंग और शब्द से जोड़ दे। ऐसे तो केवल संत सतगुरु ही हैं अथवा ऊँचे दरजे के भक्त जन। उनका संग सोहबत व उनकी प्रशादी लेना कम से कम एक वर्ष में पन्द्रह बीस दिन के लिए तो अवश्य ही करना चाहिए

ताकि अन्तर के रंग और शब्द को प्राप्त करने के लिए आहार मिले और दुनिया में बरतने से जो बहिरमुख प्रवृत्ति पैदा होती और बढ़ती है, उसके असर को मिटाया जावे और इस प्रकार उसकी चाल चलती रहे। अगर ऐसा न किया जावेगा और दूर ही दूर रहेगा तो चाहे अभ्यास भी करता रहे, जो कुछ तरक़्क़ी अभ्यास में करेगा वह दुनिया के ज़हरीले असर से ज़ायल और नाश हो जावेगी। कुछ चाल चलती हुई नज़र न आवेगी।

प्रकरण ६८

सरन

२८६—गुरु की मर्ज़ी और मौज के अधीन रहना 'सरन' है। राधास्वामी मत में सरन की बड़ी महिमा है। सरनागत भक्त की परम पिता सदा रक्षा और सम्हाल करते हैं। सरन लेने का यह मतलब है कि सरन लेने वाले का यह विश्वास है कि कोई मालिक ज़रूर मौजूद है जो जीवन दान देने वाला और जान बख़्शने वाला है और जिसको बे-दरेग़ सब कुछ सौंपा जा सकता है। ऐसा विचार, प्रेरणा और हिम्मत प्रदान करने वाला तथा उत्थान करने वाला है। हम असीम भक्ति के साथ अपने को उसके समर्पित कर सकते हैं।

२८७—मन में ऐसा ही रुख़ पैदा होने पर कर्म कट सकते हैं। वास्तव में सरन और कर्म कटने का एक दूसरे

पर प्रभाव पड़ता है। जैसे २ कर्म कटेंगे, सरन दृढ़ होती जावेगी। सरन लेगा, कर्म कटेंगे।

२८८—जब कि कर्मों का ज़ोर शोर है, यह रुख़ नहीं पैदा हो सकता। कर्मों के ज़ोर शोर से मतलब यह है कि पुराने कर्मों के स्रोत से इस दुनिया और ज़िंदगी में धुनाधुनी के साथ काम करने की ताक़त आ रही है। ऐसी हालत में आदमी किसी मदद का मोहताज नहीं होता। वह देखता है जिस चीज़ की उसे दुनिया में ज़रूरत हो, वह उसे मुहैया कर सकता है। वह अपनी ज़रूरियात को आप पूरा कर सकता है उसे किसी की मदद की ज़रूरत नहीं। जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, उस हलक़े या क्षेत्र में उसका ऐसा ख़याल करना ठीक है। वास्तव में यह सही है कि वह अपनी चाहों को पूरी कर सकता है। ग़लती यह है कि वह नहीं समझता कि जिन चीज़ों को हासिल करके वह संतुष्ठि मानता है, वे चीज़ें तुच्छ हैं। लेकिन जब तक कि कर्मों के असर से वह दुनिया में ख़ूब प्रवृत्त है, यह समझ उसमें कभी नहीं आवेगी।

प्रकरण ६९

दीनता का स्वरूप

२८९—संत सतगुरु की सरन लेने के लिए जिस दीनता का आना ज़रूरी है, वह ऐसी महत्त्वपूर्ण है कि उसके स्वरूप को और स्पष्ट रूप से बतलाना उचित है।

२९०—अन्य धर्मों में दीनता का प्रचलित अर्थ अपने आपको ज़लील करना है, इससे यह ख़याल हो सकता है कि अपनी महिमा और बड़प्पन दरसाने के लिए मालिक दीनता कराता और चाहता है। दूसरे धर्म 'दीनता' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग करते हैं। परन्तु राधास्वामी मत में 'दीनता' का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है। यह विचार ही घृणास्पद है। यह मत तो कहता है कि परम पिता अपने बच्चों से प्रेम और केवल प्रेम चाहता है। परन्तु यह सोचना कि वह अपने सामने जीव को ज़लील करना चाहता है, मूर्खतापूर्ण है। "दीनता" शब्द से अपने को दलित या ज़लील करने का अभिप्राय नहीं है।

२९१—दीनता की ज़रूरत इस वास्ते है कि जीव पूरी तरह से अपने बल पौरुष का त्याग नहीं कर सकता है और न ही अपने को सर्वांग मालिक की मौज अथवा रह-नुमाई पर छोड़ सकता है। जीव को अपनी निबलता का इस प्रकार ज्ञान पैदा होना चाहिए कि सिवा अपने को मालिक की मौज के अधीन कर देने के दूसरा कोई रास्ता नज़र न आवे। बिना पूर्ण अंग में मालिक की मदद का सहारा लिये हुए, जीव क़तई कोई तरक़्क़ी नहीं कर सकता क्योंकि जिस रास्ते पर उसे चलना है, उससे वह बिल्कुल अपरिचित है, बल्कि दुनिया में बरत कर जो स्वभाव और प्रवृत्तियाँ उसने ग्रहण और धारण कर ली हैं, वे उस रास्ते पर चलने में विघ्नकारक हैं। उसको मालिक की दया प्राप्त करने के लिए सदा मुँह खोले हुए तैयार रहना

चाहिये। दीनता और सरन प्राप्त करने के वास्ते इसीलिये जोर दिया जाता है कि यह मालिक से दया और मदद माँगे और इसमें इसी का फ़ायदा है। परमार्थ के रास्ते पर चलने के लिए यह तैयारी है।

२९२—मन बुद्धि द्वारा, ज़बरदस्ती से, रोक लगाने और नियंत्रण करने से जो अवस्था पैदा होती है, वह और चीज़ है और सच्ची दीनता और चीज़ है। ज़बरदस्ती से आई हुई दीनता न सिर्फ़ बेकार बल्कि नुक़सान-दह है क्योंकि उससे अहंकार और आपा व ख़ुदी बढ़ती है। सच्ची दीनता तभी आवेगी जब कि मन की पकड़ ढीली होगी। उससे मुक्त होने पर उसे महसूस होगा कि बिना मालिक की सँभाल और सहायता के मैं कुछ नहीं कर सकता और तब वह बे-दरेग़ अपने को मालिक की दया के सुपुर्द कर देगा और अपनी सब चिंताओं और कष्टों का बोझ मालिक की मौज पर छोड़ देगा और तब उसको मालिक की दया का आनन्द अनुभव होगा, निडर हो जावेगा और मालिक की रक्षा और सँभाल पर इस क़दर भरोसा आ जावेगा कि हर मुमकिन नुक़सान और ज़रर से अपने को महफ़ूज़ (सुरक्षित) समझने लगेगा। यही कसौटी है। यदि जीव वह आनन्द, वह निर्भयता, वह सभी प्रकार की हानियों से बचाव तथा अपनी सभी चिंताओं के भार को मालिक पर सौंप कर निश्चित हो जाना अनुभव करता है तो उसकी दीनता सच्ची है। यदि उन आनन्दों का कुछ भान उसे होने लगा है तो उसे जानना चाहिए कि वह सच्ची दीनता के पथ पर है।

२६३—आध्यात्मिक उन्नति उन तजरुबों से होती है जिनसे दीनता का विकास होता है। इसके लिए भाग्य का उलट फेर जिससे मान का मर्दन हो ज़रूरी हो सकता है। लेकिन मान मर्दन ही लक्ष्य नहीं है। सच्ची दीनता में तिरस्कार, शर्मिंदगी, उदासीनता, अपने आपकी बे-क़दरी या मलामत का नामो निशान भी नहीं है। ये दशाएँ उन धर्मों में ज़रूरी समझी गई हैं जिनका मुख्य उद्देश्य सुरत को चैतन्य धार के लाभ से वंचित रखना है। सच्ची दीनता आने पर जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके सामने दुर्भाग्य के भय का होना असंभव है। मन में ऐसा प्रतीत होते हुए भी कि घोर विपत्ति और कष्ट ने आ घेरा है, अन्तर में उसको कोई फिक्र और डर न होगा। इसका ही नाम वह सच्ची दीनता है जिसकी महिमा राधास्वामी मत में की गई है। इस मत की श्रेष्ठता, सच्ची दीनता उत्पन्न करने में ही है। लेकिन सच्ची दीनता एक बारगी या बहुत जल्द नहीं आ जावेगी। दीनता नतीजा है उस चेतनीकरण की मन्द गति से होने वाली प्रक्रिया का जिसे पूर्णता पर पहुँचने में चार जन्म लग सकते हैं। तभी अन्त में जाकर सुरत बिल्कुल मन से अलेहदा होगी। जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भक्त यत्न करता है, उसका यह एक अंग है।

प्रकरण ७०

भक्त का जीवन

२६४—भक्त का प्रयत्न पूर्णतया अपनी चैतन्य शक्ति को बचाए रखने और एकत्र करने के लिए होना चाहिए। यह काम उसे जीवन पर्यंत करना होगा जिसको कई विधियों से करने की उसको हिदायत और हुक्म है।

२६५—साधारण मनुष्य की चैतन्य शक्ति भास रूप से सारे शरीर में फैली हुई है। लेकिन मनुष्य शरीर में एक ख़ास स्थान पर उसकी नशिस्त या बैठक है। उसे छठा चक्र कहते हैं जो नाक की जड़ के पीछे, जरा अन्दर दिमाग़ में स्थित है। लेकिन उस स्थान पर उसकी कुल चैतन्यता का एक थोड़ा सा हिस्सा ही हमेशा रहता है। ज़्यादा हिस्सा शरीर भर में फैला हुआ है। अभ्यासी भक्त उस फैले हुए चैतन्य को छठे चक्र पर समेट कर लाने और वहाँ पर उसको ठहरा रखने का अभ्यास और जतन करता है। सुरत का समूह बनने से चेतनता बढ़ती है और सुरत को ऊपर चढ़ाने के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त होती है। यह समेटने और खींचने और चढ़ाने का अभ्यास वह हर रोज संत सतगुरु के उपदेश और हिदायत के अनुसार करता है।

२६६—यह बात समझ लेनी चाहिए कि चैतन्यता का विकास और वृद्धि बहुत धीरे २ होती है। अभ्यास करने से भास रूप में फैली हुई चैतन्यता सिमटती और इकट्ठी

होती है और फिर सुरत की चढ़ाई होती है। लेकिन हर समय सुरत सिमटी हुई और खिंची हुई और ऊपर के घाट पर चढ़ी हुई नहीं रहती। बहुत कम अंश ऊपर के घाट पर रहता है। बाक़ी अधिक हिस्से का नीचे उतार हो जाता है। वास्तव में वह ऊपर ठहरने के लायक़ नहीं होता। वह बहुत मलीन है। जिस तरह हवा से ऊपर उठी हुई धूल नीचे गिरती है, उसी तरह उसका नीचे उतर आना ज़रूरी है। हवा से भाफ़ भी ऊपर उठ जाती है। भाफ़ वायु मंडल में रह सकती है, लेकिन धूल के कण वापस नीचे गिर जाते हैं। जो अभ्यास बतलाए गए हैं, उनके करते रहने से धीरे धीरे ✗ सुरत की सफ़ाई होती जावेगी और सुरत चैतन्य को समेटने और खींचने और उसका समूह बनाने और उसको चढ़ाने की बार २ कोशिश और जतन करते रहने से अंत में उसकी सफलता मालूम होने लगती है।

२९७ मनुष्य शरीर में वे केन्द्र बने हुए हैं जिनका सम्बन्ध या ताल्लुक क्रमशः रचना के सब से नीचे के मंडल या लोक से लेकर सबसे ऊपर के मंडल या स्थान के साथ है। मनुष्य शरीर में जिस स्थान पर सुरत की प्राकृत अवस्था में बैठक है, वहाँ से उसको शरीर में स्थित ऊपर के केन्द्रों में, एक के बाद दूसरे केन्द्र में, दरजे-ब-दरजे चढ़ाने का अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास में जैसे २ तरक़्क़ी होती जाती है यानी सुरत ऊपर के मुक़ामों में चढ़ती जाती है, वैसे २ ही उन लोकों और

मंडलों में गति प्राप्त होती जाती है क्योंकि शरीर में स्थित केन्द्रों का बाहर के मण्डलों से संबंध है।

२९८—इस अभ्यास के तीन अंग हैं :—पवित्र नाम का सुमिरन या जाप मन ही मन में, संत सतगुरु के आकार का चितवन या ध्यान करना अन्तर में, और सुरत की बैठक के स्थान यानी छठे चक्र के ऊपर से जो शब्द आ रहा है, उसको सुनना। यह शब्द संत सतगुरु की दया और मदद से सुनाई देता है। नाम, रूप और शब्द में सोई हुई चैतन्यता को जगाने, बढ़ाने और उसको ऊपर चढ़ाने की शक्ति भरी हुई है। इसलिये उनमें चित्त जमाने से अभ्यासी की सुरत भी धीरे २ जागती है, सफ़ाई हासिल होती है और चैतन्य शक्ति बढ़ती है।

२९९—अभ्यास करने के साथ २ परम पिता के चरनों में प्रेम भी पैदा होना और बढ़ना चाहिए क्योंकि सुरत को चढ़ाने में सबसे ज्यादा प्रभावशाली, प्रेम ही है। कारण यह कि मालिक और सुरत, दोनों का जौहर प्रेम है। प्रेम के जागने और बढ़ने से ऐसी आंतरिक आकर्षण शक्ति पैदा हो जाती है जिसके बराबर कोई जरिया ऊपर जाने का उसके पास नहीं है। लेकिन जिसको कभी देखा नहीं और जिससे कभी परिचय प्राप्त हुआ नहीं, उसके प्रति प्रेम नहीं पैदा हो सकता। इसलिये अभ्यासी भक्त का यह सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि अपने हृदय में संत सतगुरु के लिए प्रेम जगावे और बढ़ावे क्योंकि उसके लिए संत सतगुरु स्वयं कुल्ल-मालिक हैं। कुल्ल-मालिक का दर्शन

उसको संत सतगुरु रूप में होता है। संत सतगुरु के प्रेम से आखिर में कुल्ल-मालिक और परम पिता से भी प्रेम करने लगेगा। किंतु पहिली सीढ़ी गुरु का प्रेम है। उद्धार का जो इंतज़ाम मालिक ने किया है, उसमें संत सतगुरु के महान और आवश्यक उपकारों में से यह एक है। वे एक भारी चुम्बक के समान हैं। वे अपने शिष्यों का प्रेम अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

३००—यह आसानी से समझ में आ सकता है कि जो बातें ऊपर बयान की गई हैं उनकी पूरी प्राप्ति के लिए समय चाहिए। जो कुछ असर हो, वह हमेशा क़ायम रहने वाला होना चाहिऐ और जो फल प्राप्त करना है, वह बहुत बड़ा है। जिन जीवों का उद्धार करना मंज़ूर है, उनके लिए मालिक ने जो जतन और साधना और अभ्यास मुक़र्रर किए हैं, वे अन्य सब रीतियों से बिल्कुल भिन्न हैं। मालिक के मुक़र्रर किए हुए अभ्यासों से धीरे २ तरक़्क़ी होती है और उन्हीं से पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है। दूसरे प्रकार के योग के साधनों से इसकी तुलना कीजिए जिनसे अपेक्षाकृत कम समय में कम या अधिक प्रभावपूर्ण नतीजे, जैसे-प्रकाश का देखना, शब्द का श्रवण, इत्यादि हासिल हो सकते हैं। लेकिन ये सब चीज़ें बेकार हैं।

३०१—ख़ास मतलब तो सुरत को तन और मन से अलग करना है। लाज़मी तौर पर तरक़्क़ी बहुत धीरे २ ही होगी। लेकिन धीरे २ तरक़्क़ी होने का नतीजा यह निकलेगा कि अन्त में काल और माया की शक्तियों

और विघ्नों पर अभ्यासी को क़ाबू हासिल हो जावेगा और वह मृत्यु की हद के पार निकल जावेगा।

३०२—ज़ोर लगाने से थोड़े ही वक्त में यह न्यारा और अलग करने का काम हो सकता है लेकिन उससे वह नतीजा नहीं निकलेगा जो हम चाहते हैं। मृत्यु के समय क्या होता है? सुरत के साथ साथ मन भी तन से अलग हो जाता है, लेकिन घोर कष्ट और दुःख व्यापता है। तन छूटता है मगर ज़रा सी देर के लिए। मन और सुरत फिर भी मिले रहते हैं और दूसरा शरीर ढूँढते हैं।

३०३—लेकिन सुरत चैतन्य की धीरे २ तरक़्क़ी होने के ख़्याल से हिम्मत हारने की ज़रूरत नहीं है। देर लगे, मगर जो चीज़ हम चाहते हैं, वह अवश्य मिलेगी। बे-इन्तहा सब्र और धीरज चाहिए। यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। सब्र और धीरज के साथ २ तेज़ शौक़ और प्रचण्ड अनुराग भी होना चाहिए। सब्र और धीरज से एतदाल बना रहेगा। ख़्वामख़्वाह की जल्द-बाज़ी और घबराहट न होगी। लेकिन पूर्ण उद्धार होने के विषय में भक्त अभ्यासी के दिल में कोई शक या संदेह न होना चाहिए, रास्ता चाहे कितना ही कठिन और लंबा क्यों न हो। सब जिम्मेदारी और चिंता मालिक ने अपने ऊपर ले ली है। इसे केवल दृढ़ता के साथ प्रयत्न करना है।

प्रकरण ७१

परमार्थी तरक्क़ी के निशान

३०४—आध्यात्मिक उन्नति के कुछ निश्चित चिह्न भी हैं जो अपने समय पर प्रकट होते हैं। वे यह हैं :— (१) संत सतगुरु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम पैदा होना और छठे चक्र या तीसरे तिल पर रस और आनन्द का प्राप्त होना। (२) नीचे के चक्रों से सुरत की धार का तीसरे तिल की ओर खिचना और सिमटना मालूम होना। यह धार हाथ पैरों से खिच कर ऊपर की ओर चलती हुई मालूम होती है। ऐसा लगता है मानो तमाम जिस्म में से कोई चीज़ ऊपर को रेंग या चल रही है। (३) ऊपर से चैतन्यता का प्रवाह होता हुआ मालूम होता है। इसे अमृत का टपकना कहते हैं।

३०५—परमार्थी तरक्की का एक अन्य स्पष्ट चिह्न यह है कि संत सतगुरु के स्पर्श से सारे बदन में बिजली सी दौड़ जाती है। यह अहसास कभी कभी बहुत स्पष्ट और सुनिर्दिष्ट होता है। माता को अपने बच्चे को छूने पर और पुरुष को अपनी कामिनी को स्पर्श करने पर जो अनुभव होता है, उसी क़िस्म का यह अहसास है।

३०६—तीसरे तिल पर पूरे तौर से पहुँचने पर इतनी शक्ति आ जाती है कि शरीर की सभी जीवन क्रियाएँ दिखाई पड़ने लगती हैं और यह उनको देख सकता है।

प्रकरण ७२

कष्ट और मुसीबतें

३०७—मन अपनी कारंवाई के लिए शक्ति और ताक़त सुरत ही से पाता रहा है। मगर वह इस बात को महसूस नहीं करता कि उसका जीवन सुरत पर निर्भर है। इसलिये सुरत की चढ़ाई के अभ्यास में यानी सुरत को मन से न्यारी करने के अभ्यास में अनेक कष्टों और मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। ब्रह्मांड तक की ही चढ़ाई के अभ्यासों में भी बड़े २ कष्ट और मुसीबतें झेलनी पड़ती थीं। और फिर उन अभ्यासों से सुरत का मन से न्यारी होने का तो कोई सवाल ही नहीं था। लेकिन अब संतों के सुरत शब्द योग के अभ्यास में अव्वल तो निशाना या ध्येय ही ब्रह्मांड से ऊँचा है और दूसरे सुरत का मन से न्यारी होना परम आवश्यक है। इसलिये कष्ट और मुसीबतें भी ज्यादा और भारी उठानी पड़ेंगी। मन पर क़ाबू लाना होगा। मन को मारना होगा। लेकिन एक बारगी ही यह काम नहीं हो सकेगा। मन का एक दम नाश कर देने और उसको मुरदा बना कर ढेर कर देने से काम नहीं चलेगा। यह काम धीरे २ होगा। मन को जिंदा रखते हुए और उसके सब काम निहायत ख़ूबी के साथ होते हुए उसका मर्दन करना है।

प्रकरण ७३

भक्त अभ्यासी के लिए किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना परम उपयुक्त है

३०८—संत सतगुरु की निगरानी में गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना भक्त अभ्यासी के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर है।

३०९—गुज़ारे के लिए वह काम धंधा अख़्तियार करना सबसे अच्छा है जिसमें किसी की मातहती में काम करना पड़े और उसके हुक्म में चलना हो और ऐसी तंगी हो कि रोज़ी कमाने की सख़्त ज़रूरत पड़े। इस तरह काम करने से दीनता आती है और दूसरे की हिदायत और रह-नुमाई में काम करने की आदत पड़ती है। ये दोनों चीज़ें भक्त अभ्यासी के लिए लाभप्रद हैं। इससे उतर कर वह काम धंधा है जो औसत दरजे का आदमी बिना किसी की मातहती में रहे हुए स्वतन्त्रता पूर्वक मामूली तौर पर करता है।

३१०—तीसरे दरजे पर वह काम काज हैं जिनको वे लोग करते हैं जिन्हें कमाई करने की ज़रूरत नहीं, जिनको गुज़ारे के स्वतन्त्र साधन प्राप्त हैं। वे लोग शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए कुछ न कुछ खेलकूद या कसरत और घूमना फिरना इत्यादि इत्यादि किया करते हैं या अपना वक़्त काटने को कुछ और किया करते हैं।

३११—नेक चाल चलन और नेक बरताव दूसरी बात है और मज़हब दूसरी बात। धर्म का काम केवल सुरत को ऊपर के देशों में चढ़ाना है। और यह कार्य, दुनिया में सिर्फ़ अच्छा चाल चलन रखने और अच्छा बरतावा करने से ही नहीं हो सकता। पब्लिक यानी सार्वजनिक कार्यों में खपना, सामाजिक सुधार और परोपकार के काम करने में अपना समय और शक्ति लगाना अभ्यासी भक्त के लिऐ और भी मना है। जिन लोगों को अपनी शीघ्र रूहानी तरक़्की की चाह नहीं, वे लोग ये काम करें तो कोई एतराज़ नहीं है। लेकिन जिसको केवल परमार्थ की चाह है, उसके लिऐ यह घातक है। अगर अपनी ताक़त को बहिरमुख कारंवाइयों में लगावेगा तो उससे परमार्थ की कारंवाई नहीं बन सकेगी। यह कहना अलबत्ता ठीक है कि इस तरह के कामों की भी ज़रूरत है। दुनिया की भलाई के लिए इन कामों का करना ठीक और ज़रूरी है। लेकिन ये सर्व-श्रेष्ठ कार्य नहीं हैं। इन कामों के करने वाले हमेशा काफ़ी तादाद में दुनिया में मौजूद रहेंगे। इस तरह के कार्य काम चलाऊ तदबीरों में शामिल हैं। इधर से फटा, इधर सीया। दूसरी तरफ़ सीया, उधर से फट गया। इनसे कोई टिकाऊ या हमेशा क़ायम रहने वाला सुधार नहीं हो सकता। और इनको परमार्थ, मज़हब या धर्म कहना तो सरासर ग़लती है।

३१२—विद्या बुद्धि वाले लोग जो सामाजिक सुधार का कार्य कर रहे हैं, इस बात को नहीं मानते। उनका

ख़याल है कि वे इस दुनिया को अच्छी बना सकते हैं और उनके लिए सिवा इसके कुछ है भी नहीं कि वह अपनी सारी कोशिश इस काम में लगा दें और अन्त में अनुभव करें कि वे कुछ नहीं कर सके और न कर सकते हैं। ये लोग इसी काम को अपना मज़हब और धर्म मानते हैं। मगर यह असली धर्म नहीं है। सांसारिक क्षेत्र में इस काम की भी उपयोगिता है, लेकिन समझ लेना चाहिए कि इसमें मज़हब या धर्म का एक किनका भी नहीं है।

३१३—जब उनको निश्चय हो जाता है कि वे कुछ नहीं कर सकते, तब ना-उम्मीद होकर कोई न कोई जघन्य कार्य यानी खोटा काम कर बैठते हैं जिससे उनको भारी कष्ट और तकलीफ़ होगी और उसी से उनमें कुछ कोमलता और निर्मलता आवेगी। तब वे इस लायक़ होंगे कि राधास्वामी मत के उपदेश सुन सकें। इस वक़्त वे उसे नहीं ग्रहण कर सकते।

३१४—यदि राधास्वामी दयाल अवतार धारन करके सतयुग में पधारते तो उनकी बात कोई नहीं सुनता। पर इसका दूसरा कारण होता। उस समय जीवन बहुत सुगम और आराम-दह था। मनुष्यों में चैतन्य शक्ति भी बहुत थी। मनुष्य जो कुछ चाहता था, अपने आप प्राप्त कर सकता था। इसलिए उसको उस बे-बसी और लाचारी का तजरुबा पैदा होने का सवाल ही नहीं था जो कि परमार्थ के लिए नितांत आवश्यक है।

३१५—जो भक्त अभ्यासी चाहता है कि उसको परमार्थी तरक़्क़ी होती रहे और चाल चलती हुई मालूम

हो, उसको दुनिया की चाहों में नहीं बरतना चाहिए। अपना और अपने आश्रितों के गुज़ारे के लिए दुनिया में काम काज करने में हर्ज नहीं है मगर अपना दिल और दिमाग़ दुनिया में फँसा हुआ नहीं रहना चाहिए। भक्त के जीवन की बहुत उपयुक्त तुलना उस वृक्ष की हरियाली से की गई है जिसकी जड़ काट डाली गई हो।

३१६—ऊपर बयान किए हुऐ तरीक़े पर रहने वाले व्यक्ति को स्वार्थी अथवा ख़ुद-मतलबी नहीं कहा जा सकता। स्कूल में पढ़ने वाले छात्र पर सारे समाज का बोझ और उसके सुधार का भार नहीं डाला जा सकता। अगर ऐसा किया जावे तो बड़ी बेवक़ूफ़ी की बात होगी। अपने को सुधारे बिना दुनिया को सुधारने की बात सोचना, इससे कम मूर्खतापूर्ण नहीं है। इससे कहीं अच्छा काम उसके लिए यह है कि वह पहले स्वयं अपनी पूर्णता करे। तब वह दूसरों के लिए भी कुछ लाभदायक कार्य कर सकेगा।

प्रकरण ७४

केवल नैतिक सदाचार से उद्धार नहीं होगा

३१७—यह ख़याल करना बिल्कुल ग़लत है कि केवल नैतिक सच्चाई और ईमानदारी से मुक्ति प्राप्त हो जायगी। केवल सदाचार से यह नतीजा नहीं हासिल हो सकता।

सदाचार से आध्यात्मिक उन्नति के लिए केवल तैयारी हो सकती है। यदि मनुष्य का जीवन और उसके कार्य पूर्णतया स्वार्थ रहित हों तो वह उचित समय पर सच्चे रास्ते पर आ जावेगा, लेकिन नेक काम इससे आगे नहीं बढ़ सकता।

प्रकरण ७५

तपस्या और काया को कष्ट देना बेकार है

३१८—जीव के सामने सवाल यह है कि वह किस प्रकार अपनी सुरत को काल के बंधन से आज़ाद करे। इस समय सुरत बे-बस और लाचार है। वह मन की गिरफ़्त और पकड़ में फँसी हुई है। चूँकि सुरत ऊँचे देशों की बासी है, वहीं के आनन्द से उसकी प्यास बुझ सकती है। उसको यहाँ दुनिया में कोई रस या मज़ा या आहार नहीं मिलता। मन को अपना काम करने के लिए सुरत केवल ताक़त देती है। अनंत काल से वह ऐसा करती चली आ रही है। जीव को करना यह है कि सुरत को मन से अलग किया जावे। इसलिये काया को अनेक प्रकार के कष्ट देना और कोड़े मारना इत्यादि जैसा कि बहुत से मज़हबों और धर्मों के अनुयाई करते हैं बे-मानी और हैवानियत है। हैवानों ही के करने लायक़ काम हैं।

प्रकरण ७६

संन्यास तथा बैराग ठीक नहीं

३१९—राधास्वामी मत में घर-बार और काम-काज छोड़ कर सन्यास लेने की इजाज़त नहीं है। इससे बहुधा नुक़सान ही होता है क्योंकि अंत में मन अपना ज़ोर दिखाता है और तब जिन अच्छे उद्देश्य के लिए घर छोड़ा था, उनकी भावना दब और ग़ायब हो जाती है। फिर जीव संसार की तरफ़ दौड़ कर जाता है और उसकी वासनाओं का ग़ुलाम हो जाता है।

३२०—इसके बर-अक्स अगर घर गृहस्थी में रहे तो एक प्रकार की सम अवस्था यानी ऐतदाल क़ायम रहता है और गो तरक़्क़ी होनी धीरे-धीरे है मगर होती है जरूर। तरक्की निश्चित और पक्की है। इसलिए गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है। घरबार की चिंताओं और उत्तरदायित्वों के बीच में ही स्थायी तथा ठोस उन्नति हो सकती है। इनके बोझ से दब कर ही सुरत को यहाँ से निकलने की अभिलाषा उत्पन्न होती है और अपने निज घर में जाने की चाह जागती है जिसकी प्राप्ति के लिए मालिक ने इंतज़ाम कर रक्खा है।

३२१—गृहस्थी की जिम्मेदारी और फ़र्ज़ ऐसे बाँध हैं जो मन को बह जाने से रोकते हैं। बाँध को तोड़ दो तो मन सिगड्डे मारने लगेगा, खुल खेलेगा, बे रोक टोक चलेगा। मन सांप है। जब तक पिटारी में बंद है, ठीक

है। बाहर निकला तो बस, भय और ख़तरा है। मन को हर वक्त किसी न किसी काम में लगाए रहना चाहिए। अगर परमार्थी काम में न लग सके तो दुनिया का काम ही करता रहे। जो गहरे अभ्यासी नहीं हैं, वह अपना ज्यादा वक्त अभ्यास में नहीं दे सकते क्योंकि उनमें उतनी चैतन्यता नहीं होती। जिस दिशा में इंजन चलाने की शक्ति नहीं है, उस तरफ़ नहीं जा सकता। इसलिए एक ओर अभ्यास और दूसरी ओर शारीरिक तथा मानसिक कार्य दोनों इस तौर से करते रहना चाहिए कि ऐतदाल कायम रहे यानी समतुलन बना रहे। अगर कोई शख्स शारीरिक और मानसिक काम बिल्कुल न करे और अभ्यास ही अभ्यास करे तो तरक्की रुक जावेगी और वह जड़वत् मूर्खों की तरह रहने लगेगा। जब बहुत ज्यादा तरक्की हो लेती है, तब अलबत्ता अपने समय का ज्यादा हिस्सा अभ्यास में लगाया जा सकता है।

३२२—शरीर और मन को इस तौर पर साधना होगा कि वे सुरत का साथ दे सकें और यह धीरे २ होगा। शरीर की वृद्धि और उसके नाश में साठ सत्तर वर्ष लग जाते हैं और यह प्राणी के (अनन्त जीवन का) केवल एक छोर है। जीव तुरन्त दूसरा शरीर धारण करता है और उसका जीवन पहले की भाँति चलता रहता है। अब यदि उसके सम्पूर्ण जीवन पर असर करने वाला आमूल परिवर्तन करना है तो इसके लिए निस्संदेह अधिक समय की आवश्यकता होगी। यह काम जल्दी नहीं किया जा

सकता। इसलिये अभ्यासी ज़्यादा देर तक अभ्यास नहीं कर सकता और अगर अभ्यास के लिए ज़्यादा समय निकाल सके और अभ्यास कर सके तो उस समय का बहुत बड़ा हिस्सा तो बेकार गुनावनों और ख़यालों में जाता है जिसका नतीजा अच्छा नहीं होता।

३२३—साधुओं और विरक्तों का ग़लत रास्ते पर चले जाने और भटक जाने का ज़्यादा डर है क्योंकि उनको नियमित और स्थिर रखने के लिए उन पर किसी क़िस्म की ज़िम्मेदारी नहीं होती और अपनी ज़रूरियात और चाहों को बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं। सबेरे सोकर उठने से रात को सोने के वक्त तक मन को गूँथा-गांथी करने की पूरी आज़ादी रहती है, जो चाहे बदमाशी के षडयंत्र रचे। जब ऐसी हालत है तो क्या उम्मीद की जा सकती है? जब तक पहला जोश क़ायम है, तब तक सब ठीक चला जाता है। लेकिन ज्योंही वह जोश ठण्डा पड़ा कि उत्पात शुरू हो जाता है। इसलिए जिस क़दर परमार्थी कार्रवाई और अभ्यास में तरक़्क़ी करे, उसी क़दर दुनिया के काम-काज और धंधों में कमी करनी चाहिए। घर बार छोड़ कर सन्यास लेना बर्जित है। घर से नहीं निकल जाना चाहिए।

३२४—संसार में रह कर उसके प्रलोभनों और वासनाओं का मुक़ाबला करना चाहिये, न कि उनके भय से संसार छोड़ दे। इस तरह तरक़्क़ी होगी।

प्रकरण ७७

राधास्वामी मत के नैतिक सिद्धान्त

३२५—राधास्वामी मतानुसार वे कार्य अच्छे हैं जिनसे कुल्ल-मालिक की नज़दीकी हासिल हो यानी कुल्ल-मालिक का सामीप्य प्राप्त हो। इसके विपरीत जितने कार्य हैं, वे सब बुरे हैं। राधास्वामी मत में वह कार्य बुरा समझा जाता है जिससे सुरत का मन और माया के देश में उतार हो। नीचे उतार होने से सुरत माया में अधिकाधिक फँसती जाती है। दुनिया में जिसे बुरी बात या बुरा काम ख़याल किया जाता है, वह बुराई चाहे उसमें न हो अथवा दुनिया में जिसे अच्छा चाल चलन और अच्छा बरतावा कहा जाता है, उसके हिसाब से चाहे उस काम के करने की अनुमति और इजाज़त हो, लेकिन अगर उस काम के करने से सुरत का नीचे उतार होता है तो वह अवश्यमेव बुरा काम है। इसलिये उन सब कामों से जिनका आदि और अंत संसार है, अलग रहना चाहिए। मगर ऐसी अलेहदगी और उदासीनता से संसार का बिगाड़ नहीं होगा। क्योंकि दुनिया की उन्नति के काम करने वाले हमेशा यहाँ बड़ी तादाद में मौजूद रहेंगे। संसारी जीवों की ऐसी ही प्रकृति है कि सामाजिक और राजनैतिक सुधारों की जिस वक्त जैसी ज़रूरत होगी, वैसे कार्यकर्त्ता और नेता गण पैदा होते रहेंगे। उन लोगों की कोशिश से वह औसत ऐतदाल क़ायम रहेगा यानी सामाजिक दशा और अवस्था ऐसी बनी रहेगी

कि जिसमें वे चंद आदमी जो परमार्थ की तरक़्क़ी के लिए क़दम बढ़ावें, परमार्थ कमा सकें।

प्रकरण ७८

सामाजिक सुधार और परोपकार के काम भक्तों के लिए उपयुक्त नहीं

३२६—सामाजिक सुधार और परोपकार के काम सब मन के घाट के हैं। उनका मंशा और मतलब दुनिया है क्योंकि वे इस ग़रज़ से किए जाते हैं कि इस दुनिया को रहने के ज़्यादा क़ाबिल बनाया जावे। इसलिये उन कामों के करने वालों पर दुनिया की गिरफ़्त और पकड़ और मज़बूत हो जाती है। इसके अलावा उन लोगों को अपने काम में सफलता नहीं मिल सकती क्योंकि दुनिया में कोई उन्नति या तरक्की इस तौर से नहीं की जा सकती कि वह हमेशा क़ायम रहे। किसी महदूद हलके यानी सीमित क्षेत्र में कुछ तरक़्क़ी या उन्नति होती हुई मालूम हो सकती है, लेकिन जिस बुराई और ख़राबी को वहाँ दबा दिया गया है, वह किसी दूसरी जगह फूट निकलेगी, बल्कि जिस जगह और हलक़े में तरक़्क़ी की गई है, उसी में बड़ी तेजी से हमेशा फिर ख़राबी और बिगाड़ शुरू हो जाता है। दुनिया की तवारीख को देखा जावे तो यही बात मालूम पड़ेगी। पुण्य कार्य से इक़बालमंदी, समृद्धि और सफलता प्राप्त होती है। उससे धन मिलता है और धन सारी

बुराइयों और खराबियों की जड़ है। धन से ऐयाशी, उसके बाद कामुकता और फिर लंपटता का इज़हार होता है। तब पतन होता है। इस दुनिया में सुखी और संपन्न जीवन के बाद तनज़्ज़ुल यानी उतार ज़रूरी है। हमेशा क़ायम रहने वाला कोई नतीजा नहीं बरामद होगा। यह काम ही बेकार है।

३२७—सच्चे परमार्थी ने जो निशाना और ध्येय क़ायम किया है, परोपकार के काम का ध्येय उसके विपरीत पड़ता है। क्योंकि परोपकार के काम करने वाला दुनिया को सुधारना चाहता है और परमार्थी दुनिया को छोड़ कर भागना चाहता है। इसलिये सत्य परमार्थ की दृष्टि से बड़े समाज-सुधारक और लोकोपकारक सच्चे महापुरुष नहीं समझे जा सकते। सांसारिक दृष्टिकोण से वे निस्संदेह बड़े आदमी हैं परन्तु सच्ची या आध्यात्मिक उन्नति के लिए उनके कार्यों का कोई मूल्य नहीं है। वे बहुधा स्वार्थ रहित भावना से प्रेरित नहीं होते। क्योंकि जो कुछ वे करते हैं उसमें उनका कोई न कोई मतलब और ग़रज, जैसे मान बड़ाई की इच्छा, लोगों से अपनी इज्जत कराना और इसी क़िस्म की अन्य चीजें जिनसे मन पुष्ट होता है, छिपी रहती हैं। उनके प्रयत्नों से काल का राज्य दृढ़ होता है। मन जो काल का अंश और सहायक है, उनका प्रेरक है।

३२८—जो लोग बड़े जोर शोर और जोश व ख़रोश से दुनिया के काम कर रहे हैं, नीचे उतार की सीढ़ी पर हैं और जब तक काफ़ी दुख-सुख न भोग लेंगे तब तक उनमें सत्य परमार्थ का अधिकार नहीं पैदा हो सकता।

लेकिन किन्हीं २ बिरले जीवों पर यह बात लागू न हो सके यानी उन लोगों पर जो अपने शेष कर्मों को काट रहे हों। ज्योंही कि उस तरह के कर्म एक हद तक कम हो जावेंगे, वे फ़ौरन बड़े शौक से सत्य परमार्थ में लग जावेंगे।

३२९—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि सुधार और परोपकार के काम बेकार हैं और न करने चाहिए। अपने हलक़े और क्षेत्र में उनकी भी उपयोगिता और ज़रूरत है। वे ऐतदाल क़ायम रखने में मदद करते हैं। अगर ऐतदाल न रहे तो दुनिया रहने के क़ाबिल न रहेगी और यहाँ के काम-काज बंद हो जावेंगे।

३३०—मुक्ति या उद्धार के लिए केवल पाप कर्मों या बुरे कार्यों से ही नहीं, बल्कि तथा-कथित पुण्य कार्यों और अच्छे कामों से भी हटना पड़ेगा क्योंकि सुरत के घाट से देखा जावे तो दुनिया की सब क्रियाएँ, चाहे वे अच्छी हों या बुरी, एक सी हैं। काल और माया के जेलख़ाने से निकलने के लिए सबसे नाता तोड़ना पड़ेगा। शुभ कार्य हों चाहे अशुभ हों, पाप हों या पुण्य, स्वार्थ त्याग के काम हों अथवा स्वार्थ के हों, दूसरों का उपकार हो या अपना मतलब निकलता हो, सभी बंधनों का अंत करना होगा। दुनिया की नज़र में शुभ कार्य, पुण्य कर्म, स्वार्थ त्याग और परोपकार के कामों की बड़ी महिमा है। मगर दुनिया की नजर और दुनिया का मापदण्ड असत्य है।

सत्य यह है कि जिस किसी भी काम से सुरत की ऊपर के देशों में चढ़ाई हो, वह अच्छा काम है और जिस किसी काम से दुनिया के बंधन गाढ़े और मजबूत हों, वह बुरा काम है। इसके विरुद्ध दुनिया अपने नैतिक सिद्धांतों के अनुसार जो चाहे कहे।

३३१—दुनिया के हाकिमों के आगे परोपकार के कामों की बड़ी क़दर है क्योंकि उन कामों से दुनिया की हालत में सुधार होता है। काल नहीं चाहता कि उसकी मातहत रचना में रहने वालों का बिगाड़ और तनज्जुली और पतन हो। वह चाहता है कि उसके राज्य की हद और सीमा के अंदर जिस क़दर उच्च अवस्था प्राप्त करना मुमकिन हो, वह की जावे। इसलिये सुधार और परोपकार के काम करने वालों से वह खुश होता है और उनको इनाम देता है। मगर उन इनामों पर नीचे की रचना की छाप लगी हुई होती है यानी यहाँ की हर एक चीज़ क्षणभंगुर है, उसी तरह वह इनाम भी थोड़े से समय तक ही ठहरने वाले होते हैं। नैतिक सदाचार से समृद्धि प्राप्त होती है। समृद्धि विलासिता की ओर ले जाती है। विलासिता से शक्ति का ह्रास और नाश होता है। उससे पाप करता है और पाप से नीचे उतार होता है। सांसारिक कार्यों का यह अनिवार्य रूप से चलने वाला चक्र है। काल के इनाम और बख्शिशों का ना-पायदार होना, फ़ायदेमंद भी है क्योंकि यदि शुभ कर्मों का फल हमेशा क़ायम रहने वाला होता तो सुरत हमेशा के लिए यहीं बँधी रहती और

यहाँ से निकल कर ऊँचे देश में जाना ना-मुमकिन होता। रचना करने का जो मतलब है, वह ख़ब्त हो जाता।

३३२—ऊपर बयान किए हुए शुभ कर्म इस क़िस्म के काम है जैसे जेलखाने का कोई फ़ौजी क़ैदी अपने साथी क़ैदियों की तकलीफ़ कम करने और उनको आराम देने के लिए जतन और कोशिश करे। वह उनकी सेवा सुश्रुषा करता है, उनको लिखना पढ़ना सिखाता है, उनका दिल बहलाव करता है। इन कामों से वह अपने पकड़ने वालों की प्रसन्नता प्राप्त करता है। पकड़ने वाले उससे ख़ुश होकर उसको आराम और सुविधा देते हैं। इससे पकड़ने वालों का ही मतलब सिद्ध होता है। साथी क़ैदियों को सुख और आराम पहुँचाने के कामों में अपनी तवज्जह और ताक़त लगा कर वह अपने मतलब और फायदे की बात भूल जाता है। उसका मतलब और फ़ायदा इसमें है कि वह जेलख़ाने से छूटे। पर इस तरह के कामों से उसका छुटकारा नहीं हो सकता है। बेशक अपने साथियों के साथ मेहरबानी और हमदर्दी का बरताव करना चाहिए। और जहाँ तक हो सके, उनको आराम पहुँचाना चाहिए। लेकिन अगर वह अक्लमंद है तो हमेशा इस बात को अपने सम्मुख रक्खेगा कि सबसे ज्यादा ज़रूरी काम जेलख़ाने से छूटना है और इसके लिए वह अपनी कुल ताक़त लगावेगा।

३३३—काल जेलर है जो जीवों को ज्यादा से ज्यादा मुद्दत तक अपने जेलखाने में बंद रखना चाहता है। उन सब कामों को बढ़ावा देता है जिनसे जेलखाने की हालत

में सुधार और तरक़्क़ी हो, किंतु जेलखाने से छुटकारा होने के निमित्त यदि कोई जतन और कोशिश करे तो वह उसका विरोध करता है ।

३३४—परोपकार के काम करने वाले काल की तरफ़ से खेल खेल रहे हैं ।

प्रकरण ७६

अभ्यासी के लिए राजनैतिक कार्यों में भाग लेना उचित नहीं

३३५—अभ्यासी के लिए परोपकार और सामाजिक सुधार के कामों से ज्यादा ख़राबी करने वाले राजनैतिक कार्य हैं । कारण इसका यह है कि राजनैतिक कार्यों में भाग लेने से बड़े तीव्र मनोवेग और पक्षपात के भाव उत्पन्न होते हैं जिनसे सुरत के लिए कड़े बंधन पैदा होते हैं । राजनैतिक क्षेत्रों में काम करने वाला मनुष्य चाहे बड़ा परमार्थी और साधु-स्वभाव मालूम होवे, लेकिन सत्य परमार्थ की कार्रवाई के लिऐ एकाग्र चित्त होकर लगना जो उसकी संतोषप्रद उन्नति के लिए आवश्यक है, उसके लिए महा कठिन है ।

३३६—राजनैतिक कार्यों में कोई ख़ुसूसियत नहीं है । कोई दूसरा कार्य भी जो इसी प्रकार हमारे ध्यान को आकृष्ट करने वाला हो, उतना ही हानिप्रद है । इस

प्रकार इस घाट पर जिसे प्रेम कहा जाता है और जिससे अभिप्राय साधारणतः कामुकता-जनित प्रेम से है, उसमें डूबा हुआ मनुष्य भी इस मार्ग में चलने में असमर्थ है ।

३३७—इन्हीं सब कारणों से राधास्वामी मत, अपने अनुयायियों के सामाजिक और राजनैतिक कार्यों को अच्छा नहीं समझता । राधास्वामी मत दुनिया को लात मार कर ठुकराता है और दुनिया से तिनका तोड़ कर ऊँचे धाम में पहुँचने का निशाना बँधाता है । सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि अपना एक मख़सूस निशाना और ध्येय बनाया जावे यानी दुनियावी और परमार्थी दो ध्येय नहीं होने चाहिए ।

३३८—भक्त अभ्यासी को इस मार्ग में क़दम रखने से पहले इन सब बातों को ख़ूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और शुरू से ही ऐसी धारणा कर लेनी चाहिए । इन उसूलों में कितनी सत्यता है, इसका पता उसे बहुत देर बाद चलेगा ।

३३९—अतः राधास्वामी मत में केवल इतनी ही इजाजत है कि व्यक्तिगत रूप से, कभी कोई दुखिया आ गया तो उसकी मदद कर दी । संगठन या संस्था के रूप से इन कामों में शरीक होना मना है । दयालुता के अंग से व्यक्तिगत रूप में दीन दुखियों की मदद कर देना अच्छा है और मालिक उससे ख़ुश होगा । सारी रचना मालिक की है । उसकी रचना के किसी भी हिस्से को अथवा उसके किसी भी बच्चे को सुख और आराम पहुँचाया जावेगा तो

वह प्रसन्न होगा। लेकिन दुनिया को उसमें रहने की ग़रज से अच्छा बनाना या उसके सुखों में वृद्धि करना, मत का उद्देश्य नहीं है।

प्रकरण ८०

उद्धार के लिए चार जन्मों की ज़रूरत

३४०—उद्धार के लिए यानी सुरत के निज धाम में पहुँचने की कार्रवाई पूरी होने के लिए चार जन्मों की किस प्रकार जरूरत है, यह अब और अधिक व्याख्या के साथ नीचे समझाया जाता है।

३४१—मामूली मनुष्य को जो स्थूल या भौतिक शरीर प्राप्त है, उसमें सुरत की चढ़ाई का अभ्यास अच्छी तरह नहीं हो सकता है। शरीर बना ही इस तौर से है कि दुनिया में काम कर सके और हमेशा से उस पर मन हावी रहता आया है, जैसे मन कराता है वैसे शरीर करता रहा है। अब जरूरत यह है कि उसमें तबदीली हो और उस तबदीली में बड़ी रगड़ और मेहनत पड़ती है। शरीर का एक २ ज़र्रा और एक एक कोषाणु, जिसका रुख़ पहले नीचे की ओर था, इस काया पलट से इस तौर पर बदलेगा कि उसका रुख़ कमोवेश ऊपर की ओर हो जावेगा। इसके बदलने की कार्रवाई का शुरू २ में शरीर का ज़र्रा २ और एक २ कोषाणु विरोध करता है। इसलिये पहले विरोध को पराजित करना पड़ेगा।

३४२—मत में बतलाए हुए अभ्यासों के करने से चैतन्यता बढ़ती जाती है और साथ २ काया पलट भी होता जाता है। सुरत के सिमटाव और खिचाव और चढ़ाई की प्रकट तरक़्क़ी के लिए यह नितांत आवश्यक है कि ऊपर बयान किया हुआ रद्दोबदल स्थूल शरीर में हो। इस रद्दोबदल के झेलने की ताक़त जब तक रहे, तब तक शरीर के क़ायम रहने की उपयोगिता है क्योंकि इस रद्दोबदल या काया पलट से तन मन और सुरत इन तीनों की मुनासिब कार्रवाई में फ़र्क़ नहीं आना चाहिए, रूहानी तरक़्क़ी के लिए तीनों को अपनी २ प्रकृत अवस्था में पूरी योग्यता से काम करते रहना चाहिए।

३४३—जब एक शरीर में रूहानी तरक़्क़ी की ज़रूरियात के लिए जिस क़दर रद्दोबदल या काया पलट की कार्रवाई हो सकती है उस क़दर हो जाती है, लेकिन अभी काम पूरा नहीं हुआ है तो उस शरीर की मृत्यु होकर दूसरे शरीर में बैठने की ज़रूरत होती है। जब सब सम्भव रद्दोबदल और काया पलट की कार्रवाई हो चुकती है, तब जिंदगी का बाक़ी समय रूहानी तरक़्क़ी के घनीभूत करने या दृढ़ीकरण में लगाया जाता है और तब शरीर त्याग कर दिया जाता है। इस उद्देश्य या मतलब से साधारणतः तीन नई ज़िन्दगियाँ या तीन नए शरीर धारण करने की ज़रूरत पड़ती है।

३४४—एक जिंदगी से दूसरी जिंदगी के बीच का वक्त अभ्यासी ऊँचे लोकों में व्यतीत करता है। जहाँ तक

की गति अभ्यास करके प्राप्त कर ली है, उसी मण्डल या लोक में मृत्यु के उपरान्त बासा मिलता है। वहाँ संत सतगुरु का संग मिलता है और वहाँ के चैतन्यमय वातावरण के प्रभाव से चैतन्य शक्ति प्राप्त होती है और आइन्दा इस पृथ्वी पर जो ज़िन्दगी होती है, उसमें विशेष अभ्यास और परमार्थी कार्रवाई करने के लिए शक्ति और प्रेरणा मिलती है।

३४५—कोई कोई बड़भागी अधिकारी जीव ऐसे भी हुए जिन्होंने चार जन्मों की कार्रवाई एक ही जन्म में कर ली यानी उनका शरीर इस लायक़ होता है कि चार ज़िन्दगियों में जो रद्दोबदल और काया पलट हो, उसको एक शरीर ही झेल सकता है। ऐसे हुज़ूर महाराज और महाराज साहब थे। वे वास्तव में महान विशिष्ट सुरतें थीं जिन्होंने कुछ ही वर्षों में सब कुछ समाप्त कर डाला जिसे करने में मामूली जीव चार जन्मों का समय लेता है। लेकिन देखा गया था कि काया पलट के ज़माने में दोनों महानुभावों का शरीर बहुत दुर्बल और कमज़ोर हो गया था और यही हालत कई वर्षों तक जारी रही।

३४६—जब शरीर में ज़रूरी रद्दोबदल या काया पलट हो चुकता है, तब उमूमन पूरा शारीरिक बल फिर आ जाता है। मगर शरीर की बनावट और गठन बिलकुल बदल जाती है। उसकी नवीन विशेषताओं में से एक यह है कि उसका शरीर शिशु के समान कोमल और ताज़ा हो जाता है।

प्रकरण ८१

करामात या चमत्कारों पर आधारित विश्वास हमेशा क़ायम नहीं रहता

३४७— चमत्कारों और करिश्मों को देख कर जो विश्वास पैदा होता है, उसका आधार आंतरिक प्रकृति का विकास नहीं होता। यह विश्वास बाहर से शक्ति प्रदर्शन द्वारा उत्पन्न होता है और कुछ समय तक मन के ऊपर उसका रोब जम जाता है। परन्तु उसका असर अधिक समय तक नहीं रहता। यही कारण है कि संत सतगुरु करामात नहीं दिखलाते। करामातों का आसरा नीचे दरजे के अवतार आदि लेते रहे हैं। संत सतगुरु जीव के आंतरिक स्वभाव का विकास करते हैं और उसके द्वारा उसमें विश्वास या प्रीति प्रतीत पैदा करते हैं। यह धीरे २ होता है, परन्तु इसका प्रभाव स्थायी होता है।

३४८— परन्तु भक्त को बल और प्रोत्साहन, अंतरी चमत्कार यानी उपयुक्त तथा प्रभावपूर्ण आध्यात्मिक अनुभवों से मिल सकता है। ऐसे तजरुबे बराबर होते रहते हैं और वे वास्तव में अडिग्ग विश्वास पैदा करने के लिए अनिवार्य हैं।

अध्याय ५

राधास्वामी मत की अन्य धर्मों से श्रेष्ठता

प्रकरण ८२

प्रत्येक धर्म का निश्चित लक्ष्य होना चाहिए और उसको शरीर में जीव की बैठक के स्थान का ज्ञान होना चाहिए

३४९—सच्चे धर्म को लक्ष्य का ज्ञान होना चाहिए, उस लक्ष्य को निश्चित और स्पष्ट रूप से बताना चाहिए, कोई साधना या अभ्यास की विधि बतलाना चाहिए जो लक्ष्य को प्राप्त करावे और अभ्यासी को लक्ष्य प्राप्ति में आगे बढ़ावे तथा लक्ष्य और साधक में सम्बन्ध स्थापित कराना चाहिए।

३५०—प्रथमतः यह जानना चाहिए कि शरीर में सुरत की बैठक कहाँ है। शरीर के विभिन्न भागों के अहसास करने की योग्यता विभिन्न है। इससे स्पष्ट है कि शरीर में चैतन्यता समान रूप से बटी हुई नहीं है और इसलिये कोई जगह शरीर में ऐसी होना लाज़मी है जहाँ उसका केन्द्र या बैठक हो।

३५१—शरीर के विभिन्न भागों में उप-केन्द्र भी हैं। शरीर जैसे जटिल और पेचीदा यन्त्र की कार्रवाई के लिए ऐसा होना जरूरी ही है। सभी यन्त्रों में जिनको हम जानते हैं, यही बात पाई जाती है। सारे शरीर में चेतनता समान रूप से व्याप्त नहीं है। यदि एक ही तरह के माध्यमों से सुरत की चेतनता अपने केन्द्र से निःसृत होती तो ऐसा नहीं होता। चेतनता विभिन्न दरजों में फैली हुई है। इसका कारण माध्यमों की विभिन्नता है।

३५२—इसलिये यह नितांत आवश्यक है कि सुरत केन्द्र का यानी सुरत की बैठक के स्थान का पता लगाया जावे। सुरत के फैले हुए भास को उस केन्द्र या चक्र पर खींच कर और समेट कर समूह बनाना चाहिए और तब सुरत को पिंड में उस मार्ग से ऊपर ले जाना चाहिए जो रचना के उन मण्डलों के मार्ग से मुताबिक़त रखता है जिसे उसको तै करना है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है जिससे होकर सुरत उन सुदूर देशों में पहुँच सके जहाँ कि वह जाना चाहती है।

३५३—किसी अन्य धर्म में न तो कोई निश्चित लक्ष्य या निशाना है और न उसे शरीर में सुरत की बैठक का ज्ञान है।

प्रकरण ८३

राधास्वामी मत में रचना का जो भेद दिया गया है, वह पूरी तफ़सील के साथ और पूरा है

३५४—धार्मिक विश्वासों का अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति, चाहे इस मत के सम्पूर्ण रूप के विषय में उसके विचार कुछ भी हों, राधास्वामी मत के आचार्यों द्वारा वर्णित रचना के भेद में बहुत कुछ मानने योग्य पावेगा। सबसे पहले तो उसको यह देख कर ताज्जुब होगा कि राधास्वामी मत में रचना के भेद के बारे में जो कुछ कहा है, वह साफ़ २ और पूरा २ सिलसिलेवार कहा है। प्रत्येक बात इस धर्म की परिज्ञात मालूम पड़ती है और कोई ऐसी बात गुप्त नहीं रक्खी गई है जो इसके सम्पूर्ण सिद्धान्तों के युक्ति संगत ज्ञान के लिए आवश्यक है। अन्य मतों में यह बात नहीं मिलेगी। सब के सब धर्म उन प्रश्नों के विषय में जो विश्व की आदि और उसके आधार-भूत उद्देश्यों से संबंध रखते हैं अस्पष्ट, असंतोषजनक और अनिश्चित हैं। इन्हीं गूढ़ प्रश्नों और उनके अपर्याप्त और संदिग्ध उत्तरों के कारण दुनिया में अनेक एक दूसरे के विरोधी मत मतांतर पैदा हो गए हैं। उनमें से ख़ास ये हैं :—द्वैतवात, अद्वैतवाद, वेदान्त मत और सिद्धांतियों का मत। (१) कुल-मालिक, (२) सुरत यानी जीव और (३)

माया (द्रव्य या माद्दा) या प्रकृति क्या हैं और इनमें से कौन पहले और कौन पीछे है, इस विषय में उन मत वालों की बड़ी अजीब २ धारणाएँ हैं। राधास्वामी मत के प्रकाश में इन सभी विभिन्न मतों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। यह बात स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ेगी कि जिन लोगों का ज्ञान रचना के किसी ऐसे काल तक सीमित है जो आदि रचना के बहुत पीछे है और जिन्होंने उसी को रचना का आदि काल समझा और जो अनेकता बाद में पैदा हुई उसे आदि कारण में मौजूद मान लिया, उन्हें भ्रम होना अनिवार्य था।

३५५—अद्वैतवादी और द्वैतवादी दोनों आंशिक रूप में ठीक हैं, मगर सम्पूर्णतः कोई नहीं। साथ ही दोनों सिद्धान्तों में ऐसा कोई विरोध भी नहीं है कि एक दूसरे से मेल न खाय। अद्वैतवादियों का कहना ठीक है क्योंकि अन्त में केवल एक ही सार वस्तु या तत्त्व रह जाता है। वह है कुल्ल-मालिक और उसी से सुरत चैतन्य और जड़ता निकली है। लेकिन जब हम इस रचना पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि जिस हालत में कि यह अब मौजूद है, उसके लिहाज़ से द्वैतवादियों का सिद्धान्त अकाट्य है, क्योंकि एक ओर कुल्ल-मालिक तथा दूसरी ओर जीव और जड़ पदार्थ के बीच अनुलंघनीय पार्थक्य पैदा हो गया है जो हमेशा रहेगा।

३५६—एक दूसरे अर्थ में भी द्वैतवादी और अद्वैत-वादी दोनों ठीक हैं। स्थायी विभिन्नता या फ़र्क़ जिससे

इन्कार नहीं किया जा सकता और जो अब दिखलाई देता है, उसके हिसाब से द्वैतवाद का सिद्धान्त ठीक रहता है। लेकिन जितने अलग २ रूप हैं, उन सब के अन्तर के अन्तरगत वही ऐक चैतन्य मौजूद है जिसके बिना कुल्ल-मालिक को भी सारी रचना का ज्ञान न होता। उस दृष्टि से अद्वैतवाद का सिद्धान्त ठीक है।

३५७—इसी प्रकार तत्त्व त्रय या तीन मूल तत्त्वों को मानने वालों का भी सिद्धांत अब तुरन्त समझ में आ जाता है और अपनी जगह पर उचित मालूम होता है। वे इन तीन तत्त्वों को आदि में मानते हैं। (१) कुल्ल-मालिक, (२) जीव और (३) जड़ पदार्थ; ये तीनों अनादि हैं। राधास्वामी मत के अनुसार यह स्पष्ट है कि उनका यह निष्कर्ष भेदों को मौलिक मानने के कारण है, जब कि वस्तुतः वे रचना के प्रारम्भ होने के बहुत समय बाद उत्पन्न हुए।

३५८—अब यह भली भाँति समझ में आ जाता है कि दुनियाँ में जो अनेक मत समय २ पर प्रचलित हुए और हैं, उनके मत भेद का क्या कारण है। रचना में अनेक मंडल या लोक हैं जिनके अलग २ धनी या मालिक या देवता हैं और जिनको अपने २ क्षेत्र में अपने २ विशिष्ठ और ख़ास अधिकार या ताक़तें प्राप्त हैं। जो आचार्य आध्यात्मिक साधना द्वारा जिस लोक या मण्डल तक पहुँचा अथवा जो अवतार या पैग़म्बर जिस स्थान से वहाँ का पैग़ाम या सन्देश लेकर आया, उसने उसी स्थान,

मंडल और लोक को आख़िरी मंज़िल और अन्तिम लक्ष्य और निशाना क़रार दिया और वहाँ के धनी और मालिक को सर्वोपरि सब का मालिक गरदाना और अपने सेवकों को भी यही उपदेश दिया। वास्तव में ऐसा ही उनका सच्चा विश्वास था।

प्रकरण ८४

राधास्वामी मत जीव के माया देश की यात्रा के कारणों को स्पष्ट रूप में समझाता है

३५९—जीव के माया देश के विभिन्न मंडलों की यात्रा के कारणों की जो स्पष्ट और संतोषजनक व्याख्या की गई है, वह और भी प्रभावोत्पादक है। सभी अन्य धर्म इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात के विषय में बिल्कुल अंधकार में हैं। इस बात को क़रीब २ सभी मज़हब मानते हैं कि जीव का जौहर या सार वही है जो कुल्ल-कर्त्तार का है। इससे नतीजा यह निकलता है कि वह स्वभावतः पूर्ण है। तब उसको सुधार या शिक्षा की जगह यानी माया देश में आकर क्या लाभ हो सकता था? दुनिया के पुराने मज़हब और धर्म इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सकते। उनके महत्तम आचार्यों ने इसे अक्षेय विषयों की श्रेणी में रख दिया है जिनके विषय में खोज करने से कोई लाभ नहीं है। अथवा वे लोग ऐसा कह

कर इस प्रश्न को टाल देते हैं कि हमारे लिए सिर्फ़ इतना ही जान लेना काफ़ी है कि जीव यहाँ माया की मुसीबतों में गिरफ्तार है और इससे छूटने के लिए जो जतन बतलाया जावे अथवा जो मदद दी जावे उसको फ़ौरन बिना इस बात की छान बीन किए हुए कि इस विपत्ति की अवस्था में आने का क्या कारण है, मंज़ूर कर लिया जावे।

३६०—जिस किसी सच्चे खोजी ने ऐसे लोगों को अपना गुरु या आचार्य बनाया, उनकी इस अज्ञानता और असमर्थता से उसकी जिज्ञासा और शौक़ ठण्डा पड़ जाता है और संदेह पैदा हो जाते हैं। लेकिन भाग्य से अगर किसी जिज्ञासु और मुतलाशी का राधास्वामी मत से संपर्क हो जावे तो उसको यह मालूम करके बड़ी हिम्मत और ताजगी हासिल होती है कि कम से कम एक तो ऐसा मज़हब और धर्म है जिसमें साफ़ २ तर्क संगत और विश्वासोत्पादक ढंग से इन कठिनाइयों को सुलझाया गया है। यह जितना ही आशातीत है, उतना ही स्फूर्तिदायक भी है।

प्रकरण ८५

राधास्वामी मत के उपदेश भारतवासियों के लिए बहुत आश्वासनपूर्ण हैं

३६१—भारतवासियों को राधास्वामी मत भारी आश्वासन देता है। भारतवासी समझ सकते हैं कि किस प्रकार

देश की वर्तमान दशा इस मत के आम तौर पर जारी होने के लिये तैयारी है और यह तैयारी क़रीब एक हज़ार वर्ष पहले से हो रही है। भारतवर्ष के इतिहास में ज़ाहिरा तौर पर पतन की ओर ले जाने वाला हर एक क़दम वास्तव में नीचे गिराने के बजाय, दरजे-ब-दरजे बढ़कर वरदान प्राप्त करने के लिए आवश्यक परिवर्तन और व्यवस्था करने वाला हुआ है, गोया कुल्ल-मालिक ने इसी भूमि को संसार की चैतन्यता की वृद्धि और पोषण के लिये चुना है और कुल्ल-मालिक को इस देश की रक्षा व सँभाल की बड़ी फ़िक्र और परवाह है।

प्रकरण ८६

किसी अन्य मज़हब या धर्म से सत्य और पूर्ण उद्धार नहीं हो सकता

३६२—सत्य और पूर्ण उद्धार की आकांक्षा रखने वाले की अन्य मज़हब या धर्म मदद नहीं कर सकते। जिस समय जो मत जारी किया गया था, उस समय उसने अपने दरजे की मुक्ति की कार्रवाई कराई। लेकिन अंतिम लक्ष्य पर पहुँचने में सहायता देने में दुनिया के समस्त धर्म असमर्थ हैं। वे सब काल के औज़ार थे, राधास्वामी दयाल के नहीं। इसलिये वे राधास्वामी दयाल के धाम में पहुँचने में हमारी मदद नहीं कर सकते।

प्रकरण ८७

अन्य धर्मों के लक्ष्य

३६३—पुराने सब मज़हबों और धर्मों का ख़ुदा या मालिक किसी न किसी रूप में काल पुरुष है। वेद त्रिकुटी से निकले हैं। पुराने ऋषि मुनि इससे ऊपर नहीं गए। हाँ, कोई २ योगेश्वर, जैसे–व्यास और वशिष्ठ ने ब्रह्मांड की चोटी के स्थान तक गति प्राप्त की। लेकिन वे भी काल के राज्य में ही रहे।

३६४—हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद त्रिकुटी से कुछ नीचे किसी स्थान पर ठहर गए। दोनों में से हज़रत ईसा की गति अधिक ऊँची थी। उन्होंने पिंड देश के नाके छठे चक्र को पार किया। यह त्रिशूल या क्रॉस अथवा सूली, जलीपा और सलेब की उस महिमा से ज़ाहिर होता है जिसका ईसाइयों में प्रचलित कई बातों से और स्वयं हज़रत ईसा के बचनों से मालूम होता है। इसका अंतरी अर्थ छठे चक्र पर तीन चैतन्य धारों के मिलने अथवा एक दूसरी को काटने से है। ईसामसीह ने अपनी रूह को इस क्रॉस तक चढ़ाया और तब उनको ऊपर के मंडलों में जाने की गति प्राप्त हुई और ऐसी ताक़तें हासिल हुईं जिनसे मृत्यु के उपरान्त उन्होंने स्थूल या भौतिक शरीर को पुनः जीवित कर लिया।

३६५—उनकी मृत्यु के कई सौ वर्ष पश्चात् जब हज़रत ईसा की ज़िंदगी के हालात और उपदेश किताबों

में दर्ज किए गए तब मालूम होता है लोग क्रॉस या सूली के असली मानी तो भूल गए और उसकी व्याख्या करने के लिए लोगों ने हज़रत को सूली या फाँसी पर चढ़ाए जाने का क़िस्सा गढ़ डाला। यदि यह साबित नहीं किया जा सके, मगर सम्भव मालूम होता है।

प्रकरण ८८

पुराने ज़माने के योग अब निष्फल हैं

३६६—पहले के युगों में उस समय के प्रचलित योग अभ्यासों से पिण्ड देश के ऊपरी लोकों में और ब्रह्मांड में पहुँचना सम्भव था लेकिन अब यह मुमकिन नहीं है। अब कलयुग में पुरानी योग विधियाँ कारगर नहीं हैं। ऊपर के मण्डलों में बल्कि पिण्ड के नाके पर ही पहुँचने के लिए अब केवल सुरत शब्द योग ही उपयुक्त है।

३६७—इसका भी एक प्राकृत कारण है। मनुष्य में संकल्प शक्ति यानी क़ुव्वते इरादी अब पहले की ब-निस्बत बहुत कम हो गई है। और ऐसा होना जरूरी भी है ताकि संत मत की धारना की जा सके जिसमें अपनी कोशिश और जतन का सहारा और आसरा छोड़ कर गुरु के अधीन होना पड़ता है। पहले युगों के अभ्यासों में सफलता प्राप्त करने के लिए बड़ी संकल्प शक्ति और मानसिक पराक्रम की ज़रूरत थी। अब इस समय में इनमें से कोई भी प्राप्त

नहीं है। अगर वे ताक़तें प्राप्त होतीं तो उद्धार के लिए जिस रहनुमाई और हिदायत में चलने और दीनता की ज़रूरत है, उसमें वे रुकावट पैदा करतीं। पहले ज़माने में इस प्रकार का कोई विचार ही नहीं था। उस समय अपने पुरुषार्थ और पराक्रम पर ही कुल ज़ोर दिया जाता था। द्वापर युग के अंत में पहले पहल श्रीकृष्ण महाराज ने भक्ति मार्ग का प्रचार किया। वे जानते थे कि अब संत आने वाले हैं जो भक्ति और सुरत शब्द योग सिखावेंगे और चलावेंगे। इसलिए जीवों को धोखा देने के लिए उन्होंने भक्ति मार्ग का प्रचार कर दिया ताकि जीव उनकी भक्ति में अटक जावें और संतों की भक्ति और सुरत शब्द योग की धारणा न करें।

प्रकरण ८९

यदि राधास्वामी मत के सिद्धान्तों का उचित अध्ययन किया जावे तो उसके ऊपर यह दोषारोपण करना कि वह अपने को सब से न्यारा और अलग समझता है, ग़लत साबित होगा

३६८—जिसने राधास्वामी मत के सिद्धांतों को ऊपरी तौर पर, बे-परवाही से और सिर्फ़ थोड़ा सा पढ़ा या सुना

है, वह ख़याल करेगा कि अकारण ही यह मत अपने को सबसे निराला और सर्वथा एकाधिकार पूर्ण मानता है। वह शख़्स दलील के तौर पर सवाल करेगा कि सब मज़हब या धर्म परम पिता तक पहुँचने के समान मार्ग क्यों नहीं है ? कैसे कोई एक धर्म अपने को सर्वश्रेष्ठ कह सकता है ? कैसे कोई यह दावा कर सकता है कि बस मालिक तक पहुँचने का रास्ता तो केवल उसी धर्म में है और किसी में नहीं। अगर मालिक निष्पक्ष और न्याय करने वाला है तो कैसे उसने कुछ इने गिने लोगों को जिन्होंने किसी विशेष प्रकार के धर्म और उसकी विशिष्ट साधना-पद्धतियों को अपनाया है, अपने पास पहुँचने का अधिकार प्रदान किया है ? ऐसा निराला और न्यारा अधिकार उन्हें घृणास्पद और मूर्खतापूर्ण मालूम पड़ता है। उनमें जितनी ही सत्य की सच्ची और गंभीर जिज्ञासा और खोज है, उतनी ही ये बातें उन्हें अधिक खलती हैं।

३६९—जो राधास्वामी मत के भेद से पूरी तौर पर वाक़िफ़ नहीं हैं, उनके मन में इस तरह के प्रश्नों और कड़ी टीका टिप्पणियों का उठना स्वाभाविक ही है। उन पर सिर्फ़ इतना ही दोष लगाया जा सकता है कि मत की जानकारी के लिए जो साधन उपलब्ध हैं, उनसे वे लाभ नहीं उठाते। ऊपरी तौर पर तहक़ीक़ात करने वालों के मन में ऐसे एतराज़ पैदा हो सकते हैं। मत के सिद्धांतों और उनके प्रचलित होने की स्थितियों को जिस प्रकार इस पुस्तक में प्रतिपादित किया गया है, उसको भली भाँति

तवज्जह् के साथ पढ़ें और विचारें तो ये सब एतराज़ और दलीलें ग़ायब हो जावेंगी।

प्रकरण ६०

जीवन की नित्यता तथा आवागमन के सिद्धांत स्वयं सिद्ध हैं

३७०—प्रथमतः इस बात को मौलिक स्वयं सिद्धी के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए कि समस्त जीवन नित्य है और निरंतर चलता रहता है। केवल देहों की क्षीणता और मृत्यु होती है। इसको माने बिना संसार की कोई घटना तथा हालत समझ में नहीं आ सकती। यह मानने से कि मनुष्य तथा अन्य जीवों को इस पृथ्वी पर केवल एक ही अल्प जीवन प्राप्त होता है, उनके और दूसरी चीज़ों के वजूद की उत्पत्ति समझ में नहीं आ सकती। यदि यह बात सत्य हो तो कर्त्ता को अपराधी मानना होगा। चाहे वह किसी धर्म का भगवान हो वह भारी पक्षपात, अन्याय और निर्दयता का दोषी है।

३७१—परन्तु अदृश्य जीवन का क्रमिक अल्पकालीन देहों में निरंतर प्रवाह अथवा जन्मान्तर का सिद्धान्त इस आलोचना के आधार को बिल्कुल नष्ट कर देता है। इस आधार पर हमारे लिये अनन्त समय और अवसर हैं। यदि वर्तमान जीवन में हमें कोई अवसर नहीं मिलता तो अन्य जीवनों में मिल सकता है। इस पृथ्वी की उम्र और जिस

सृष्टि या रचना में यह पृथ्वी है उसकी उम्र, हम लोगों की गिनती और हिसाब से बहुत ज़्यादा और बड़ी है। इसलिये यहाँ के वासियों को अपनी मुक्ति और उद्धार के लिए कार्रवाई करने का समय भी बहुत है, इतना ज़्यादा कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता और जो हमारी पृथ्वी के मालूम-शुदा इतिहास और उम्र की ज़्यादा से ज़्यादा अवधि से, जिसका क़यास किया जा सकता है, कई गुना होगा। सब को वह अवसर प्राप्त होगा जो अब आपाततः इने गिने व्यक्तियों का अधिकार मालूम होता है। वह अवसर प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होगा ज्योंहि कि वह उससे लाभ उठाने का अधिकारी होगा क्योंकि यही रचना का उद्देश्य है। जन्मान्तर के सिद्धांत के विपरीत जो कुछ कहा जावे तो उससे रचना या सृष्टि का मतलब ख़ब्त हो जाता है।

३७२—कुल्ल-मालिक सिर्फ़ एक ही है। इसलिये अंतिम लक्ष्य या पद भी एक ही है। तो फिर वहाँ पहुँचने के मार्ग क्यों अनेक होंगे ? कुल्ल-मालिक का प्रथम प्रकाश या ज़हूरा ऐक ही प्रकार से हुआ यानी शब्द धार द्वारा जो उससे निकली। उसी के द्वारा उसके पास पहुँचना सम्भव है। अन्य मार्ग जो उसके तथा कथित नामों से प्रसिद्ध हैं, बिल्कुल भिन्न लक्ष्यों को प्राप्त कराते हैं। अन्य सब मज़हब और धर्म काल या उसके प्रतिनिधियों के औज़ार थे। काल के एजेंटों और प्यादों ने उनको जारी किया था और उनका मतलब यह था कि उसके राज्य की

दशा अच्छी रहे और उसमें रहने वाले जीवों पर आवश्यक नियंत्रण रक्खा जाय ताकि वासना और कामुकता में अत्यन्त लिप्त हो जाने के कारण उनका पतन न हो जाय। यह ऐतदाल या सम तुलन कमोबेश क़ायम किया जाता रहा है अन्यथा माया की प्रबलता कहीं ज़्यादा हो जाती ब-निस्बत उस के जो है।

३७३—इसके अलावा काल के मातहत राज्य और देश के अंदर अंदर जो जीव ऊपर चढ़ने के अधिकारी थे, उनको चढ़ाने के लिए भी वे मत ज़रिये थे।

३७४—भिन्न २ मतों को जारी करने से काल का एक और भी मतलब था और उसमें वह बहुत दरजे तक कामयाब भी हुआ। यहाँ इतने परस्पर विरोधी मज़हबों और मतों और धर्मों का जाल फैला दिया जावे ताकि जीव उसमें फँस जावे। और इस प्रकार काल की हद के बाहर निकलने का रास्ता बतलाने वाला जो मत हो, उससे सब जीव दूर रहें अथवा उसे स्वीकार करने में देर हो। राधास्वामी मत को फैलने और जारी होने से रोकने के लिए काल अपना बल और ज़ोर लगा रहा है और लगाता रहेगा। इस मतलब के लिए वह अनेक प्रकार के धोखे और कपट करने से भी नहीं चूकता। वह जानता है कि अंत में उसको हार माननी पड़ेगी, मगर फिर भी वह अपनी चालाकी से बाज़ नहीं आता। उसको हुकूमत और राज्य प्राप्त है। इसलिये जो चीज़ इसमें बाधक हो, उसका वह विरोध करता है। जब तक और जहाँ तक वह

अपनी हुकूमत और राज्य को बर-क़रार रख सके, तब तक और वहाँ तक बराबर अपनी कोशिश किए जावेगा।

३७५—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे अनेक धर्मों के चलाने वाले आचार्यों या ऊपर से संदेश लेकर आने वालों की निंदा करने का मतलब बिल्कुल नहीं है। पुराने ऋषि, मुनि, बुद्धजी, हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद आदि ने निस्संदेह यही ख़्याल किया था कि वे सबसे ऊँचे धाम में पहुँचने का और पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बतला रहे हैं। लेकिन ख़ुद उनको धोखा हुआ। सत्तदेश का तो उनको बिल्कुल पता ही नहीं था। सत्तदेश के विषय में सिवा काल के किसी को मालूम नहीं था और काल ने इस भेद को अपने तीनों पुत्रों विष्णु ब्रह्मा और महादेव से भी बड़ी होशियारी से छिपा कर रक्खा।

३७६—काल द्वारा प्रचलित किए हुए मतों और धर्मों से अपने २ वक्त में कुछ नीचे के लोकों में रसाई और गति प्राप्त हुई। लेकिन उतनी सी रसाई और गति अब उनसे नहीं प्राप्त हो सकती। उनका वक़्त गया। अब वे केवल मृतावशेष हैं। सच्चे जिज्ञासुओं को और झंझट और चक्कर में डालते हैं। इसलिये जितना जल्द उनका ख़ातमा हो, उतना ही अच्छा है।

३७७—ऐक वक़्त आवेगा जब कि राधास्वामी मत को सारी दुनिया के लोग मानेंगे। उस वक़्त यहाँ चैतन्यता भी बहुत बढ़ जावेगी और फलतः जीवन बहुत सुखमय हो

जावेगा। संतों के सबसे ऊँचे धाम से उतर कर बार २ यहाँ चरन पधारने से यहाँ चैतन्यता की वृद्धि होगी।

३७८—लेकिन बहुत ऊँचे दरजे की चैतन्यता के यहाँ उतर आने से यह जीवन क़ायम नहीं रह सकता है। वह प्रलय अथवा इस रचना के सिमट जाने का सूचक होगा। उचित समय आने पर प्रलय होती है। अधिकारी जीव उस समय तक ऊपर के देशों में पहुँच जावेंगे और जो बाक़ी बचेंगे, वे लय अथवा बेहोशी की सी अवस्था को प्राप्त हो जावेंगे और आगामी रचना के आरम्भ तक उसी हालत में पड़े रहेंगे।

अध्याय ६

विविध विषयों पर बाबूजी महाराज और फेल्प्स साहब में बातचीत

(१)

इलाहाबाद
९-१-१९१३

राधास्वामी मत, अन्य मतों से न्यारा है

३७९—एक हिंदू होटल के पास गुजरते हुए बाबूजी महाराज ने फ़रमाया कि मांस और हड्डियों से भरी पड़ी है और नाम हिन्दू होटल है।

फ़ेल्प्स साहब—विवेकानन्द मांस खाने को कहते थे। शारीरिक स्वास्थ्य और बल के लिए मांसाहार उपयुक्त बतलाते थे। अमेरिका में उन्होंने मेरे यहाँ गोश्त खाया था।

बाबूजी महाराज—विवेकानन्द विद्या बुद्धि में बड़े थे, मगर जहाँ तक परमार्थ का सवाल है, उनमें

कोई ख़ास बात नहीं थी। वे बंगाल के प्रसिद्ध रामकृष्ण के चेले थे।

रामतीर्थ दूसरी क़िस्म के थे। वह डूब कर मरे थे। इस तरह के लोग अनेक धर्म ग्रन्थ पढ़ कर अपनी विचार धारणा क़ायम कर लेते हैं और अपनी समझ के अनुसार नतीजे निकाल कर उनके आधार पर धर्म प्रचार करते हैं।

फेल्प्स साहब—थियासूफ़ लोगों के मत में हृदय के स्थान पर मालिक का ध्यान बतलाया जाता है।

बाबूजो महाराज—इन सब मतों में, अगर किसी में योग के अभ्यास किए भी जाते हैं तो मंत्र की साधना या ध्यान अन्तःकरन के घाट पर यानी हृदय चक्र पर ही किया जाता है। बहुत कम हैं जो सुरत के घाट पर साधना या ध्यान करते हैं, मगर रचना में उन स्थानों की स्थिति से वे भी अनभिज्ञ हैं। योग के अभ्यास भी वे विधि पूर्वक नहीं करते। जो कुछ वे करते हैं, उससे सिर्फ़ नीचे दरजे की कुछ सिद्धि शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और मन और इन्द्रियों की कुछ मलीनता दूर होकर थोड़ी सी निर्मलता आ जाती है। हृदय चक्र पर देह, मन और सुरत चैतन्य तीनों की कार्रवाई मिली हुई होती है। सुरत की बैठक

के स्थान पर गो इन तीनों का संग है मगर वे एक दूसरे में समाऐ हुऐ नहीं हैं जैसा कि हृदय चक्र पर।

३८०—सुरत सिर्फ़ ताक़त देती है। मन कर्त्ता-धर्ता है देह और इन्द्रियाँ, मन की कारवाई के औज़ार और साधन हैं। हृदय चक्र पर ये तीनों ताक़तें मिली हुई अवस्था में काम करती हैं क्योंकि जब तक सुरत से शक्ति न मिले, देह और मन बेहोश रहेंगे और कुछ बाहोश कार-वाई नहीं कर सकते। आध्यात्मिक उन्नति के लिए देह और मन और इन्द्रियों की सफ़ाई हासिल करना बड़ा जरूरी है। लेकिन राधास्वामी मत के अनुयाई का मक़सद और इरादा यह होना चाहिए कि सुरत को हृदय चक्र से उठा कर उसकी बैठक के मुक़ाम पर पहुँचाया जावे और मन व माया के बंधन से मुक्त किया जावे और मन व माया के नीचे की ओर झुकाव व खिचाव से निकाला जावे। अगर ये बातें प्राप्त हो जावें तो मन वग़ैरा की सफ़ाई तो आप ही आप हासिल हो जावेगी। सुरत को बंधनों से आज़ाद करना और मन की सफ़ाई, दोनों काम साथ २ चलेंगे। अन्य मजहबों में यह बात नहीं है। वे लोग अपना सारा ज़ोर मन की सफ़ाई हासिल करने में ही लगाते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि वे लोग मनाकाश से ऊपर नहीं उठ सकते। बहुत कम हैं जो ब्रह्मांड में प्रवेश पाते हैं, वरना उनमें से ज़्यादातर पिंड के नाके को भी प्राण धार के ज़रिये से पार नहीं कर सकते। प्राणों की धार

त्रिकुटी से निकली है और त्रिकुटी का स्थान ब्रह्मांड देश का ऊपर का एक उप-विभाग है। रचना के हर ऐक बड़े दरजे में निचला हिस्सा और ऊपर का हिस्सा, इस तरह दो हिस्से हैं। फिर हर एक हिस्से में तीन तीन छोटे दरजे या उप-विभाग बने हुए हैं।

३८१—देह क्या है ? इच्छा अथवा माया का आकार धारण करना। जैसी इच्छा होती है, वैसा ही आकार बनता है। ख़याल या विचार उस आकार को वह शक्ल देते हैं जो बाहर में दिखलाई देती है। मृत्यु के उपरान्त दूसरे जन्म में जो देह धारण करेगा, उसका ढाँचा इच्छा बनाती है।

३८२—सुरत पर मन और माया का असर और दबाव बहुत ज़्यादा है। यहाँ मन करता-धरता होकर बैठा है। नीचे रचना में उतार के वक़्त जो कुछ चैतन्यता की पूँजी सुरत अपने साथ इस मंडल में लाई थी, वह इतनी कम और कमज़ोर है कि बग़ैर मदद के सुरत अपने को मन और माया के देश और बंधनों से आज़ाद नहीं कर सकती। इस मतलब के लिए उसमें सत्तदेश की चैतन्यता का बीज डालने और उससे उसको भर देने की ज़रूरत है और यह केवल संत सतगुरु की संगत द्वारा ही किया जा सकता है। केवल संत सतगुरु ही इस ऊँचे दरजे की चैतन्यता का बीज जीव में बो सकते और परवरिश कर सकते हैं जिसकी वजह से सुरत दयाल देश में पहुँचने के लायक़ हो जाती है। बीज में से कुला फूटने में बहुत समय

लगता है और यह कुला फूटना या अंकुर निकलना न सिर्फ़ धीरे २ होता है, बल्कि उसका पता भी नहीं पड़ता। अभ्यास करते २ जब कुछ चित्त जमने लगता है तब सुरत की बैठक के स्थान से बहुत हलकी और कमज़ोर सी धार उठने लगती है और तब कभी २ या बार बार अभ्यासी को ऊपर के मुक़ामों का आनन्द और रस मिलने लगता है। अन्तःकरन के घाट पर जितनी चैतन्यता है अथवा भास रूप से जितनी चैतन्यता कुल शरीर में फैली हुई है, उसकी लगभग आधी चैतन्यता जब सिमट कर सुरत की बैठक के स्थान पर पहुँच जाती है, तब अलबत्ता अभ्यासी को अपने अन्तर में ख़ालिस और निर्मल रस व आनन्द बराबर प्राप्त होता रहता है। बीज में से अंकुर निकलने या कुला फूटने के बाद वह बढ़ते २ वृक्ष हो जाता है और उसमें फूल लगते व फल निकलते हैं। कुला फूटना पिंड में होता है। पेड़ रूप सहसदल कँवल में होता है। त्रिकुटी में कलियाँ निकलती हैं। सुन्न में फूल लगते हैं और सतलोक में फल प्राप्त होता है।

(२)

इलाहाबाद
९-१-१९१३

सुरत और मन और देह की सफ़ाई

३८३—योग के अभ्यासों और हृदय चक्र पर एकाग्रता प्राप्त करने वग़ैरा २ विषयों पर बातचीत करते हुए

बाबूजी महाराज ने फ़रमाया कि ये लोग इसी चक्र या स्थान पर ध्यान जमाते हैं क्योंकि इस देश में इसी घाट पर मन की बैठक है।

३८४—हृदय चक्र पर सुरत और मन और इच्छा आपस में मिली हुई अवस्था में हैं। सुरत चक्र पर ये तीनों साथ २ हैं, मगर आपस में मिले हुए नहीं। हृदय चक्र अथवा अंतःकरण के घाट पर जब कार्रवाई के लिए उतरते हैं तो तीनों साथ २ उतरते हैं। सुरत ताक़त देती है। मन प्रधान बन कर काम करता है। देह और इन्द्रियाँ औज़ार का काम देती हैं यानी मन उनके द्वारा अपनी कार्रवाई करता है।

३८५—इच्छा, माया यानी माद्दे का सूक्ष्म रूप है। देह, इच्छा का स्थूल रूप है।

३८६—मन के तीन प्रकार हैं (१) नीचे का मन या व्यक्तिगत मन जिसे पिंडी मन कहते हैं, स्थान उसका हृदय चक्र या अंतःकरण का घाट है। (२) ऊपर का मन अथवा सूक्ष्म मन, स्थान उसका तीसरा तिल है। (३) सर्व व्यापक ब्रह्मांडी मन, स्थान उसका त्रिकुटी है। इनके भी कई प्रकार हैं। लेकिन ख़ास यही हैं। मन, सुरत तक नहीं पहुँच सकता। मन चाहे जो करे पर सुरत पर उसका असर नहीं पड़ सकता। सुरत अलग रहती है। मन की सब कार्रवाइयों से वह अलग है। वह सिर्फ़ ताक़त देती है। जब कभी सुख की संवेदना भी होती है, सुरत न तो उसके अधिक समय तक रहने में और न उसके बराबर

पैदा होने में कोई भाग लेती है। सुरत सिर्फ़ शक्ति और ज्ञान का भण्डार है। मन बेहोश और जड़ है। सुरत की ताकत से मन होश की हालत में है। अगर सुरत का संग न मिले यानी सुरत से ताक़त न प्राप्त हो तो मन बेहोश हो जायगा।

३८७—चूँकि मन, सुरत पर कोई असर नहीं पहुँचा सकता और सब कार्रवाई मन से उठती और पैदा होती है और मन ही सब कार्रवाइयों का करने वाला है, इसलिये जो कुछ भी कार्रवाई मन द्वारा शुरू हो, उससे सुरत को चढ़ाई में कोई ख़ास मदद नहीं मिल सकती। ज्यादा से ज्यादा यह हो सकता है कि जहाँ इसकी स्थिति है, उससे ठीक ऊपर वाले लोक या स्थान से वहाँ की चैतन्यता जो कि नीचे की चैतन्यता से किसी क़दर ऊँचे दरजे की होती है, प्राप्त कर ले। निर्मल सुरत और निर्मल चैतन्य देश तक मन की पहुँच नहीं है। मन की क्रियाओं और अभ्यासों से मन के देश के अंदर २ ही चढ़ाई और गति प्राप्त हो सकती है, सुरत के देशों में नहीं। और न इनसे वह कमी पूरी हो सकती है जिसके कारण शुरू में सुरत को सत्तदेश से उतर कर नीचे आना पड़ा।

३८८—सुरत शब्द योग के सिवा जितने योग और अभ्यास हैं, वह सब इसी क़िस्म के हैं यानी मन के योग और अभ्यास हैं। उनसे पिंड के ऊपर के लोकों और ब्रह्मांड तक रसाई और चढ़ाई हो सकती है।

३८९—सुरत की चढ़ाई के लिए प्रेरणा और बल ऊपर से यानी निर्मल चैतन्य देश से प्राप्त होना ज़रूरी है। यह प्रेरणा, प्रोत्साहन और बल केवल संत सतगुरू ही दे सकते हैं और उपदेश अथवा दीक्षा के समय वे अवश्य देते हैं। केवल संत सतगुरू ही, चाहे स्वयं और चाहे किसी की मारफ़त, यह बीज या जामन डाल सकते हैं।

३९०—यह ठीक है कि मन की सफाई भी होनी चाहिए और देह की भी। और अभ्यासों और योग विधियों से देह और मन की शुद्धि थोड़ी बहुत हो जाती है। देह और मन की सफ़ाई हासिल करना लाज़मी और ज़रूरी है। दुनिया से पूर्ण अथवा थोड़ा बहुत वैराग उत्पन्न होना भी ज़रूरी है क्योंकि दुनिया और दुनिया की चीज़ों का नीचे की तरफ़ खिचाव इतना ज़बरदस्त है कि सुरत ऊपर उठ नहीं सकती। इसलिये तीनों की चढ़ाई साथ २ होनी चाहिए। लेकिन इस बात को याद रखना चाहिए कि ज़रूरी और ख़ास चीज़ सुरत की चढ़ाई है। जो कुछ हासिल करना है, वह सुरत की चढ़ाई है। यह मतलब अन्य योग विधियों से बिल्कुल नहीं निकलता।

३९१—संत सतगुरू जो बीज डालते हैं वह, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बहुत धीरे २ फूटता या अंकुरित होता है। मुद्दत तक तो यह भी नहीं मालूम होता कि बीज पड़ा है, क्योंकि शुरू में जो धार बीज में से निकलती है, वह निहायत ही बारीक और नाज़ुक होती

है। मगर जैसे २ वह बढ़ती जाती है, उसके साथ २ देह और मन की भी सफ़ाई हासिल होती जाती है।

३६२—चूँकि वह धार निहायत बारीक और नाज़ुक होती है, इसलिए कुछ पता नहीं चलता या बहुत कम। कभी २ अंतर में कोई आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होता है। लेकिन उसकी सँभाल और रक्षा कुल्ल-मालिक और संत सतगुरू द्वारा बराबर होती रहती है और यदि भक्त अभ्यासी की हिम्मत और हौसला बढ़ाने के लिए अंतर में कुछ दिखलाने या सुनाने की ज़रूरत समझी जाती है तो वे अंतरी तजरुबे और परचे ज़रूर बख्शे जाते हैं। अंतःकरण के घाट से उठ कर जब सुरत आधी या आधी से ज्यादा तीसरे तिल पर पहुँच जावेगी तब अंतर में सुरत या रूह को रस और आनंद अक्सर बल्कि क़रीब क़रीब बराबर मिलता रहेगा। इस आध्यात्मिक वृक्ष या रूहानी दरख़्त पर कलियाँ त्रिकुटी में निकलती हैं, फूल सुन्न में लगते हैं और सत्तलोक में फल मिलता है।

(३)

इलाहाबाद
१०-१-१९१३
शाम को हवाखोरी के वक्त

गुनाहों को खोल कर बयान करना। सुरत और मन का सम्बन्ध। मन की मुख़ालिफ़त से क्या मतलब है? अच्छे और बुरे कामों की व्याख्या।

३९३—बाबूजी महाराज—अपने गुनाहों और पाप कृत्यों को केवल संत सतगुरु या साध गुरु के सामने खोलने की इजाज़त है। जिस किसी सतसंगी से बहुत प्रेम और मेल जोल हो और जो परमार्थ में ऊँचा दरजा रखता हो और जिससे उम्मीद हो कि वह नेक सलाह दे सकता है, उसके सामने भी अपने क़सूरों को बयान किया जा सकता है। जब किसी दुनिया की चिन्ता या ख़याल से परेशान और बेचैन हो या जब दुनिया के भोग विलास के प्रलोभन में आ जाने का अन्देशा हो या जब कभी मन की मुख़ालिफ़त और विरोध से अभ्यास में तरक्की होती हुई न मालूम हो या पिछले कृत्यों और कर्मों के संकल्प विकल्प और गुनावनों में अभ्यास में विघ्न वाक़ै होता हो, तब किसी ऐसे की मदद और सहायता की ज़रूरत होती है जो उससे हमदर्दी कर सके और उसको ठीक रास्ता बतला सके। उसके सामने अपनी हालत बयान कर देने से भक्त अभ्यासी के दिल पर से एक बोझ सा उतर जाता है और उसको बहुत चैन और आराम मालूम होता है और अपना अभ्यास ज्यादा सहूलियत के साथ बग़ैर विघ्न बाधा के कर सकता है।

३९४—फ़ेल्प्स साहब—मन की मुख़ालिफ़त या विरोध से क्या मतलब है? आपने फ़रमाया है कि सुरत कुछ नहीं करती है, सिर्फ़ ताक़त देती है और अलग रहती है। तो फिर मन की मुख़ालिफ़त या विरोध का सवाल ही कहाँ है?

३९५—बाबूजी महाराज–मन के विरोध से अभिप्राय है नीचे दरजे के मन द्वारा अन्तरात्मा की पुकार का जो ऊँचे दरजे के मन की प्रेरणा है, विरोध। जरूरत इस बात की है कि मन अपनी कार्रवाइयाँ यानी बदमाशियाँ कर करके थक जावे। उसको कुचल देने से काम नहीं चलेगा। यद्यपि सुरत, मन और इन्द्रियों के कामों में सक्रिय भाग नहीं लेती, पर वह चाहती है कि मन और माया के बन्धन से उसका छुटकारा हो जावे। लेकिन मन की सहायता के बिना वह अपने को मुक्त करने में असमर्थ पाती है। मन अपनी करतूतें करके जब थक जावेगा, तब उसको अपनी मजबूरी समझ में आवेगी और तब वह ख़ुशी से सुरत का साथ देने को तैयार होगा ताकि जहाँ इस वक़्त नशिस्त और बैठक है, वहाँ से मन और सुरत दोनों ऊपर के घाट पर उठें यानी चढ़ें, फिर उससे ऊपर के घाट या स्थान पर, यहाँ तक कि ब्रह्मांडी मन के स्थान पर पहुँच जावें। वहाँ पहुँच कर मन का साथ छूट जावेगा और सुरत छुड़ी होकर, अकेली, बिना किसी रुकावट के, ऊपर के देशों में जावेगी। पिंडी मन की बैठक हृदय चक्र पर है। उसके रूप का स्थान तीसरा तिल है। ब्रह्मांडी मन का स्थान त्रिकुटी है। सार बचन छंद बंद में एक जगह सुरत और मन की बातचीत का वर्णन है जिसमें सुरत, मन से प्रार्थना करती है कि :—

सतगुरु मोसे कहा बचन इक।
मन को संग ले चलो सबेरा॥

ताते तुम पै करूँ वीनती ।
चढ़ो गगन क्यों करो अबेरा ।।
इन्द्री द्वार विषय अब त्यागो ।
करो अभी सुलझेरा ।।

मन जवाब देता है कि :—

कैसे चढ़ूँ गगन को प्यारी ।
मैं चंचल ज्यों दौड़त घोड़ा ।।
ताते तोसे कहूँ जतन मैं ।
चल सतगुरु पै करो निहोरा ।।
सरन पड़ें अब मिल कर हम तुम ।
कर सतसंग होयँ कुछ पोढ़ा ।।
मैं अपने बल चढ़ूँ न कब ही ।
जब लग मिलें न गुरु बंदी छोड़ा ।।
सुन कर सुरत अधिक हरखानी ।।
चल जल्दी वह बंधन तोड़ा ।।
सतसंग सरन गही अब दोनों ।।
भर भर पीवत अमी कटोरा ।।

३९६—राधास्वामी मत में उस काम को अच्छा कहते हैं जिससे सुरत की चढ़ाई ऊपर को हो और उस काम को बुरा कहते हैं जिससे सुरत का नीचे और बाहर उतार व बहाव हो । सुरत के उद्धार के लिए कर्म धर्म पाप पुण्य सब से अलग होना पड़ेगा । बर-अक्स इसके दुनिया में नैतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से उन सब कामों को अच्छा कहा जाता है जिनसे लोगों को आराम

पहुँचे। सबको सुख पहुँचाने के काम करना कर्त्तव्य और धर्म समझा जाता है और ये लोग समझते हैं कि निःस्वार्थ भाव से दुनिया को सुख और आराम पहुँचाने के कर्म करने से ही उनका उद्धार होगा। लेकिन यह उसी तरह है जैसे जेलख़ाने के अंदर कोई क़ैदी अपने साथी क़ैदियों की सेवा सुश्रुषा करे, तन्दुरुस्ती अच्छी रखने के लिए सफ़ाई और अन्य जरूरी बातों का इन्तज़ाम करे। जेल के अफ़सर लोग ऐसे क़ैदी की तारीफ़ करते हैं कि वह बड़ा अच्छा काम कर रहा है और वे लोग उसको वार्डर बना कर अथवा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा कर, इस रूप में, उसे अच्छे काम का इनाम देते हैं। ऐतदाल क़ायम रखने के लिए यह जरूरी है, वरना बिगाड़ और ख़राबी हो जावे। यह दुनिया भी जेलख़ाना है जिस पर शैतान या काल हुकूमत कर रहा है। जो लोग दुनिया के बासियों का दुख दर्द दूर करने के काम कर रहे हैं, वे काल शैतान की नज़र में अच्छे आदमी हैं जिनको दुनिया के सुख और समृद्धि के रूप में इनाम दिया जाता है। लेकिन इस जेलखाने से छूटने के लिए तो क़ैदियों को जेलख़ाने की दीवारों में कोई रास्ता या सूराख़ तलाश करना चाहिए। मालिक की बड़ी दया है कि यहाँ इस तरह का इन्तज़ाम रक्खा गया है कि हर सुख और आराम के साथ दुख और दर्द लगा हुआ है। देख लो उन लोगों का हाल जिनके पास धन दौलत और ऐशो आराम बहुतायत से है। वे लोग माया में उतरते चले जा रहे हैं। उनका पतन हो रहा है। अंत में मुसीबत में गिरफ्तार होंगे। इसलिये कहा है कि मुसीबत और दुःख दर्द मालिक

की दया से प्राप्त होते हैं। बिना इन हालतों के आए हुए कोई भी अपनी हस्ती में तरक़्क़ी और बेहतरी के लिए कुछ करना न चाहेगा।

३६७—सुरत स्त्री और शब्द पुरुष है। सुरत प्रेमी और शब्द प्रीतम है।

राधा प्रीत लगावनहारी।
स्वामी प्रीतम नाम कहारी॥

मगर यहाँ हालत बिल्कुल उलटी है। पुरुष ने स्त्री का स्थान तथा स्त्री ने पुरुष का स्थान ले लिया है। वहाँ स्त्री (सुरत), पुरुष (स्वामी) की तरफ़ रुजूअ होती है और यहाँ पुरुष, स्त्री के पीछे भागता है।

(४)

इलाहाबाद
१६-१-१९१३
शाम को हवाख़ोरी के वक़्त

तुँद्रा और निद्रा। सुरत की चढ़ाई।

३६८—फेल्प्स साहब—सतसंग में मुझको पाठ का मतलब समझ में नहीं आता है और उसकी आवाज़ की वजह से ध्यान नहीं लगने और जमने पाता। नतीजा यह होता है कि नींद आ जाती है।

बाबूजी महाराज—कुछ एकाग्रता के बाद अगर यह हालत आवे तो वह आधी नींद और आधी ध्यान की हालत है। वह ख़राब नहीं है। उसे तुंद्रा कहते हैं।

फेल्प्स साहब—पाठ समझ में न आने के कारण मन खाली रहता है। किस चीज़ पर जमे ?

बाबूजी महाराज—नींद आने से पहले अगर खिचाव और सिमटाव हो तो उससे बड़ा फायदा हो। खिचाव और सिमटाव होने पर अगर नींद आवे तो नींद में भी उसका असर रहता है। इसके लिए चित लेटना चाहिए।

फेल्प्स साहब—ऐसा क्यों ?

बाबूजी महाराज—जिस प्रकार अभ्यास में सीधे, खड़ी कमर, बैठने की ज़रूरत है जिससे सब नाड़ी केन्द्र या चक्र एक सीध में हो जावें, उसी प्रकार सब चक्रों को एक सीध में लाने के लिए पीठ के बल, मुँह ऊपर किए हुए, चित्त लेटना ज़रूरी है। अगर दाएँ बाँएँ करवट लेटा जावेगा तो सिमटाव नहीं होने पावेगा और लेटते ही फ़ौरन नींद आ जावेगी। डाक्टरों की राय में चित्त लेटना तन्दुरुस्ती के लिए नुक़सान-दह है। उससे पाचन क्रिया में हर्ज होता है। मैं तो सदा चित ही लेटता हूँ और चित लेटे २ ही नींद आ जाती है।

३६६—गहरे सिमटाव और खिचाव से अंतर में बहुत ऊँचे दरजे के आसाधारण और आश्चर्यजनक अनुभव प्राप्त होते हैं जिनसे सब संदेह और भविष्य की चितायें मन से दूर हो

जाती हैं। शुरू में बहुत कम चित्त जमता है। इससे सिमटाव और खिचाव भी बहुत कम होता है। पहले स्थान पर चित्त अच्छी तरह से जमने लगे और वहाँ गहरा सिमटाव और खिचाव हो, इसमें बहुत वक्त लगता है। अगर फ़ौरन ही होने लगे तो सब काम काज का सिलसिला उलट जावेगा, कुल शरीर पर उसका असर पड़ेगा। ऊटपटाँग काम करने लगेगा। अंदेशा है कि ऐतदाल खो दे। मानसिक साम्य या सम अवस्था जाती रहे।

४००

फेल्प्स साहब —आपने फ़रमाया है कि आधी या आधी से ज्यादा सुरत को ऊपर के स्थान पर पहुँचाया जा सकता है।

बाबूजी महाराज—हाँ, हाँ। आधी क्यों, कुल सुरत ऊपर चढ़ाई जा सकती है।

फेल्प्स साहब—इसी ज़िन्दगी में ?

बाबूजी महाराज—इसी जन्म में नहीं। हाँ, कोई विशेष अधिकारी हो तो उसकी बात दूसरी है। सुरत को पिंड के ऊपर आधी पहुँचाने या चढ़ाने का यह मतलब नहीं है कि अभ्यासी इस अवस्था को तुरन्त प्राप्त कर लेगा। सुरत की आधी चैतन्यता ऊपर पहुँच जाने के बाद अभ्यासी का रास्ता ऐसा सुगम और सुखाला हो जाता है जैसे विजय के बाद सेना का आगे

बढ़ना। जिस तरह यहाँ देह और इन्द्रियों द्वारा यहाँ के सुखों का मज़ा लिया जाता है, उसी तरह अभ्यासी ऊँचे घाट की रचना के देखने, स्पर्श करने और सुनने आदि के सब प्रकार के रस और आनन्द प्राप्त करता है। अगर यहाँ कोई ख़ूबसूरत चीज़ सामने आवे तो फ़ौरन आकर्षण होता है और उस तरफ़ तुरन्त चित्त का रुख़ मुड़ जाता है। कोशिश करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। अगर आधी चैतन्यता ऊँचे घाट पर चली जावे तो यही हालत और अवस्था आ जावेगी।

४०१—हर सतसंगी भक्त जन की सुरत की बहुत हलकी और बारीक धार तो गौण अंग में ऊपर स्थान प्राप्त कर लेती है और जो स्थान इस तरह प्राप्त हो जाता है, उसके अनुसार उसकी सुरत को मृत्यु के बाद बासा मिलता है। मृत्यु के समय संत सतगुरु स्वरूप प्रकट होता है। वे सुरत को अपनी गोद में लेकर उस स्थान पर विश्राम कराते हैं जिस स्थान पर कि जीवित दशा में सूक्ष्म धार पहुँच चुकी है। वहाँ की आबोहवा में कुछ समय उसको रक्खा जाता है ताकि उसकी चैतन्यता बढ़े और पुष्ट हो जिससे अगले जन्म में परमार्थ और अभ्यास की कार्रवाई करने के लिए विशेष

योग्यता और अधिकार प्राप्त हो। कम से कम एक मात्रा नियत और मुक़र्रर है कि उतने अंश या अंग में जीवित दशा में सुरत की धार किसी ऊँचे स्थान पर पहुँच जानी चाहिए ताकि मृत्यु के बाद वहाँ बासा मिल सके। इसी चढ़ाई के हिसाब से सुरत को मृत्यु के के बाद ऊँचे स्थानों पर ठहराया जाता है।

(५)

इलाहाबाद
१७-१-१९१३

सुरत अमर और बाहोश है। पिछले जन्मों की याद।

४०२

फ़ेल्प्स साहब—आपने फ़रमाया है कि सुरत अंतर के अन्तरगत बाहोश है और मन से छुटकारा सदा चाहती रहती है।

बाबूजी महाराज—अपने आप या अन्तर में सुरत हमेशा होश की हालत में है। वह कभी बेहोश नहीं हुई है। कुछ जीवों में सुरत ज्यादा बाहोश है। कुछ में कम और कुछ में बहुत कम। एक मानी में सुरत हमेशा निर्मल और साफ़ रही है। निर्मल वह थी, निर्मल वह है और निर्मल वह हमेशा रहेगी। लेकिन वाचक ज्ञानी जो अपने को यानी अपनी आत्मा को अलेप कहते हैं, वह कहना उनका ठीक नहीं है। योगेश्वर ज्ञानी ब्रह्मांड की चोटी

पर पहुंचें जहाँ सुरत मन से न्यारी और अलग होती है और इसलिये उस स्थान पर योगेश्वर ज्ञानियों ने आत्मा का दर्शन करके उसको अलेप और शुद्ध कहा तो उनका कहना ठीक है। सुरतवंत जीवों को कुछ कुछ सुरत की ख़बर पड़ती है। सुरत तो हमेशा ही बाहोश है मगर उसके होश की अवस्था का हमको होश और ख़बर नहीं है। अन्य धर्मों के अनुसार सुरत के स्थान पर जब चैतन्यता एकत्रित हो और उसका समूह बने, तब महत्त्व प्राप्त होता है और उसे महात्मा कहते हैं। लेकिन राधास्वामी मतानुसार सुरत का स्थान अथवा आत्मपद सुन्न में है और जो कोई वहाँ पहुँचे, वह सच्चा महात्मा या साध है।

फेल्प्स साहब—क्या मरने के बाद पिछले जन्म की याद रहती है?

बाबूजी महाराज—हाँ, याद रहती है मगर बहुत धुंधली। मृत्यु के बाद जीव को ज्योति के सामने ले जाया जाता है क्योंकि अगर मनुष्य चोला मिलने को हो तो ज्योति के सामने जाना जरूरी है। ज्योति के सम्मुख जाने पर देह और दुनिया और मन के पिछले सब संबंध फिर से जाग जाते हैं और उनमें जान सी पड़ जाती है जिससे वह फिर नीचे ढलक आती है यानी नई जोनी प्राप्त करती है। एक ख़ास दरजे पर पहुँच कर पिछले सब जन्मों की याद आ सकती है लेकिन उस वक्त मन और माया के साथ रहे हुए पिछले संबंध ऐसे मालूम होते हैं मानो वे अपने नहीं, किसी दूसरे व्यक्ति के हैं। मन और माया के

संग से बराबर चैतन्यता क्षीण होती रहती है। मनुष्य चोला फिर मिले, इसके लिये जरूरी है कि सुरत के स्थान पर कम से कम उतनी चैतन्यता जरूर रहे जितनी कि मनुष्य चोला क़ायम रखने के लिए जरूरी है। अगर सुरत के साथ २ सुरत की बैठक या नशिस्त ही नीचे के किसी चक्र पर उतर आवे तो पशु योनि में जाना पड़ेगा।

४०३—मन और माया यानी देह के साथ सुरत इस तौर से कभी भी नहीं मिली है कि उनके साथ एक हो जावे। ऊँचे दरजों में मन और माया पर सुरत प्रधान है। नीचे दरजों में वह उनके आधीन हो गई है। उस पर मन और माया के मसाले के ख़ोल और गिलाफ़ चढ़ गए हैं और उससे जो धार निकलती है, उस पर इन ग़िलाफ़ों का असर रहता है। जब यह ग़िलाफ़ अपनी अपनी कार्रवाई करके थकित और क्षीण हो जावें और मन की एक ख़ास दरजे तक सफ़ाई हो जावे, तब वह ऊपर चढ़ाई के लायक़ हो जाता है और तभी वह सुरत का उसकी चढ़ाई में साथ देता है। सायंसदां यानी वैज्ञानिक अजीब क़िस्म की ग़लत फ़हमियों और मिथ्या विचारों में पड़े हैं।

४०४—आधुनिक काल का प्रसिद्ध आविष्कारक एडीसन कहता है कि आत्मा को अमर ख़याल करना बिल्कुल ग़लत है। उसके विचार इस प्रकार के हैं कि शरीर में जो नन्हे २ कोष यानी कोषाणु हैं, वे सब अलग २ जीवित व्यक्तियाँ हैं। मृत्यु होने पर वे कुछ और शक्ल अख्तियार कर लेते हैं। सच तो यह है कि एक निश्चित या मुक़र्ररा

वक्त के बाद शरीर के कोषाणु बदल जाते हैं मसलन कहा जाता है कि प्रत्येक सात वर्ष के समय के पश्चात् मानव शरीर में एक प्रकट रद्दोबदल या फेरफार होता है। उम्र बढ़ने के साथ २ इनसान के ख़याल और विचार भी बदलते रहते हैं। लेकिन सुरत जो कि मन और तन दोनों को ताक़त देती दे, वैसी ही रहती है। वह नहीं बदलती। बेहोशी की बीमारी में अथवा मूर्च्छा या लय अवस्था में नाड़ी और दिल की धड़कन बंद हो जाती है, लेकिन अन्तर में सुरत बाहोश रहती है। सुरत का होश या ज्ञान नहीं चला जाता है। कोई भी असाधारण बात जिसका कारण इन सायंसदानों और वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आता 'प्रकृति की अद्भुत लीला' कह कर खतम कर दी जाती है।

४०५—इसके बाद बाबूजी महाराज ने फ़रमाया कि एक लड़का था जिसने मेरे सामने अपने पिछले जन्म का हाल बयान किया था और ताऊजी साहब की पतोहू, जब उसको बेहोशी का दौरा आता था, अपनी पिछली जिंदगी की उन घटनाओं का वर्णन करती थी जिनका संबंध स्वामीजी महाराज और हुजूर महाराज से था।

(६)

इलाहाबाद
१७ जनवरी सन् १९१३
शाम को हवाख़ोरी के वक्त

सुरत की काल और माया से भिन्नता

४०६—जहाँ तक सुरत ग़िलाफ़ों पर हावी और ग़ालिब रही यानी ग़िलाफ़ सुरत के वश में रहे और सुरत का, चैतन्य आकर्षण में आकर्षित होने में, साथ दिया वहाँ तक सुरत और ग़िलाफ़ एक हो गए। यह हालत दयाल देश में है। लेकिन जब ग़िलाफ़, सुरत पर ग़ालिब और हावी हो गए यानी ग़िलाफ़ इतने मोटे और स्थूल हो गए और सुरत इतनी कमज़ोर हो गई कि वह ग़िलाफ़ को फेंक कर और उनसे आज़ाद होकर ऊपर के चैतन्य केन्द्र की ओर न आर्कषित हो सकी तब ग़िलाफ़ आपस में मिल और जुड़ गए और धार रूप होकर निकले और काल और माया का रूप धारण किया। काल, शब्द की तलछट है और माया, सुरत की। नीचे की तह या स्तर को जब ऊपर उठाया जावेगा तो यह आम क़ायदा है कि कुछ बाकी छूट जावेगा जिसको नहीं उठाया जा सकता। काल और माया एक तौर से सुरत और शब्द के मल हैं जो दयाल देश का अंग नहीं बन सकता था और इसलिए जिस प्रकार कि शरीर से पाख़ाना निकल जाता है, उसी प्रकार उनको फेंकना पड़ा। यह मल यानी काल और माया, दयाल देश में उसी तरह लौट कर नहीं जा सकते जिस तरह कि शरीर से मल निकल गया, वह निकल गया, फिर शरीर में नहीं जा सकता।

४०७—निर्माणशाला या कारख़ाने में वस्तु निर्माण की प्रत्येक प्रक्रिया में कुछ न कुछ निर्माण होने से बच रहता है यानी कारख़ाने में जहाँ कच्चे माल से चीज़ें बनाई जाती हैं, कुछ तलछट बच जाती है जिससे फिर उसी

क़िस्म की कोई चीज़ नहीं बनाई जा सकती। उसी प्रकार पुरुष के चैतन्य आकर्षण में जो चैतन्य खिच सकता था, खिच गया और जो बाक़ी बचा, वह चैतन्यता की कमी के कारण बेहोश था। आकर्षण शक्ति उस तलछट में से सुरतों को न निकाल सकी। अगर वे सुरतें आकर्षण शक्ति में आकर्षित होने लायक होतीं तो वे सत्तदेश में ही होश में आ जातीं। जो सुरतें सत्तदेश में चेष्टा में आ गईं, वे वहीं सत्तदेश में ही रहीं।

४०८—जिन सुरतों में और उनके ग़िलाफ़ों में बराबर का ज़ोर था यानी कोई किसी पर ग़ालिब या हावी नहीं था, वे सुरतें निर्मल चैतन्य देश में न ठहर सकीं। इन ग़िलाफ़ों को जिनके साथ उन्हें लगाव और एकता थी, उतारने और झाड़ने के लिये उन सुरतों को काल और माया देश में उतरना पड़ा ताकि उन ग़िलाफ़ों का ज़ोर और थकित हो जावे। किसी ज़ोर या ताक़त के थकित होने से मतलब उसके नाश होने से नहीं है। क़ुदरत में किसी शक्ति का पूर्ण विनाश नहीं होता है। मतलब यह कि उन सुरतों पर जो ग़िलाफ़ थे, वे क्रियाशील हो जावें यानी अपनी कार्रवाई करें और अपने से मुवाफ़क़त रखने वाले देश में पहुँच कर वहाँ ठहर जावें यानी जिन ग़िलाफ़ों में माया से ताल्लुक़ रखने वाली क्रिया शक्ति हो, वे माया के देश में छूट जावें और जिनमें काल से ताल्लुक़ रखने वाली क्रिया शक्ति हो, वे काल के देश में समा जावें। जिन सुरतों में दयाल देश में लौट कर जाने की गुप्त शक्ति

है, वे सुरतें इन ग़िलाफ़ों से छूट जाने पर दयाल देश में जाने लायक़ हो जाती हैं लेकिन बहुत कमज़ोर होने के कारण, बिना मदद के, वे नहीं लौट सकतीं। जब उनमें ऊँचे देश की चैतन्यता भरी जावे तव वे लौट सकती हैं और यह काम संत सतगुरु के संग से होता है। कमज़ोरी की वजह से ही तो वे सत्तदेश में ग़िलाफ़ों पर हावी न हो सकीं और ग़ालिब न आ सकी थीं और इसीलिए काल और माया के देश में उनको उतरना पड़ा।

४०९—ज्यों ही दयाल देश से निकले कि काल और माया फ़ौरन क्रियाशील हो गए यानी उनकी पूरी ताक़त खुल कर कार्रवाई में आ गई। इसीलिये अब वे लौट कर दयाल देश में नहीं जा सकते क्योंकि दयाल देश में जाने के लिए अब उनमें कोई गुप्त शक्ति बाक़ी ही नहीं रही है। यह आम क़ायदा यानी व्यापक नियम है कि जो शक्ति जिस घाट पर क्रियावती हो जाती है यानी कार्रवाई में आ जाती है, उस घाट से ऊपर नहीं जा सकती। उसी घाट पर सदा के लिए अवस्थित हो जाती है। इस प्रकार सत्त-पुरुष, दयाल देश के ऊपर वाले मण्डलों में नहीं जा सकते। लेकिन ये नन्हीं २ छोटी छोटी सुरतें जो दयाल देश के ऊपर के मण्डलों से आई हैं, वहाँ लौट कर जा सकती हैं।

४१०—ग़िलाफ़ों का सुरत के विपरीत कार्रवाई करना और उनका बड़े ज़ोर से नीचे उतरना, "ज़ोर और ज़बरदस्ती" ज़ाहिर करता है। बर-अक्स इसके सत्तदेश में

ग़िलाफ़ों का सुरत के अनुरूप होना और सुरत की अनुकूलता में और सुरत के साथ ऐक होकर कार्रवाई करना "ठीक और उचित" है। दयाल देश की नीति "सत्य बरतावा" है। काल और माया के देश की नीति यह है कि "ज़ोर और ज़बरदस्ती" से दबा कर अपना काम निकाल लेना और फिर उसी को दुरुस्त और सही बतलाना। दयाल देश में सब प्रेम और मेल की कार्रवाई है। जब यह अवस्था आ गई कि ग़िलाफ़, सत्तदेश के प्रेम और ऐक्य में शरीक न हो सके, तभी विरोध या मुख़ालिफ़त का अंग प्रकट हुआ यानी पार-ब्रह्म या महाकाल पैदा हुआ जो कि सब मज़हबों और धर्मों के ख़ुदा और ईश्वर का बाप है। दयाल देश में जुदागाना यानी अपना अलेहदा और अलग मतलब नहीं है, न विरोध या मुख़ालिफत है। सब का एक ही मतलब है। सब एक सुर में मिल कर प्रेम और ऐक्यता से काम करते हैं।

४११—काल और माया में बहुत चैतन्यता है, लेकिन निर्मल चैतन्य के देशों के मुकाबले में उनकी वही हालत है जैसी प्रकाश और जीवन के विपरीत अन्धकार और मृत्यु। प्रेम ही प्रकाश और जीवन है। विरोध और मुख़ालिफ़त अन्धकार और मृत्यु है। एक अमर है, दूसरा मर। जो उनके लिए खेल है, वह हमारे लिए मौत है। जो काल के लिए खेल है, हमारे लिए मौत है।

(७)

इलाहाबाद
१८ जनवरी सन् १९१३
शाम को हवाखोरी के वक्त

पिछले जन्मों की याद पर पर्दा डाल दिया जाना। आदि कर्म और उसका नाश होना।

४१२—सामाजिक उन्नति और सभ्यता की वृद्धि से बड़ी हलचल पैदा हो गई है। जिन्दगी में एक मिनट की फ़ुरसत नहीं। हर वक़्त धुनाधुनी लगी रहती है। हज़ारों मीलों की दूरी पर विदेशों में होने वाली घटनाओं की सनसनी और उत्तेजना फैलाने वाली ख़बरों से अख़बार और पत्र भरे रहते हैं। पहले ज़माने में ज़िंदगी बहुत सादा, सरल और निर्दोष थी। राजनैतिक जोश और उत्तेजना नहीं थी। हमारे पूर्वज बहुत शांतिमय निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे। हलचल, धुनाधुनी, सनसनी, उत्तेजना और जोश से भरी हुई आजकल की ज़िन्दगी से मुझे नफ़रत है। रात को जितनी देर सोते हैं, उतनी देर आराम है; बाक़ी कुल वक़्त, रात दिन, आज कल के नौजवान किसी न किसी धुन और काम में व्यस्त रहते हैं। मैं चूँकि ख़ुद बहुत पुराने ज़माने का हूँ, मुझे बूढ़े आदमियों के साथ बहुत सहानुभूति है।

४१३—अगर किसी बूढ़े आदमी से जो सारे जीवन के अनुभव और ज्ञान प्राप्त कर चुका है, कहा जावे कि तुम फिर से, बचपन से, जिन्दगी शुरू करो तो क्या यह मुमकिन है कि अनुभव शून्य बाल्य काल की प्रफुल्लता उसके जीवन में दुबारा आ सकती है ? कभी नहीं।

४१४—उसी प्रकार यदि मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन में पिछले जन्म और उसके सम्बन्धों की याद रहे तो उसके लिए मौजूदा ज़िन्दगी नीरस हो जावेगी। इस-लिए पिछले जन्मों की याद पर परदा डाल दिया जाता है।

४१५—जो कुछ हो रहा है, उस सबका यानी कुल रद्दोबदल और उलट फेर का मतलब इस दुनिया का, इस मण्डल का और सारी रचना का आध्यात्मिक पुनरुद्धार यानी रूहानी तरक़्क़ी करना है। रचना में असंख्य विश्व और मण्डल हैं।

४१६—मन मिस्ल प्याज़ के है जिसमें बहुत से परत एक दूसरे पर चढ़े हुए हैं और जिसमें काल और माया की गुप्त शक्ति धरी हुई है। वे परत या ग़िलाफ़ ही आदि कर्म हैं जिनके कारण सुरतों को नीचे उतरना पड़ा। नीचे उतर कर आने पर ये ग़िलाफ़ अपनी २ कार्रवाई करते हैं और इस प्रकार वे थकित और क्षीण होते हैं। हर परत या ग़िलाफ़ की कार्रवाई में बड़ी चैतन्यता ख़र्च होती है और उसी क़दर सुरत कमज़ोर होती जाती है। जब सब परत और ग़िलाफ़ उतार दिए जावेंगे और उनके साथ

काल और माया के देश में कारंवाई करने की शक्ति भी क्षीण हो जावेगी, तब सुरत को ऊपर के देशों में चढ़ाने का वक़्त आवेगा और तब फिर चैतन्यता एकत्रित होगी और बढ़ेगी और उसका समूह बनेगा।

४१७—मन और माया के मसाले की बनी हुई देहें सुरत की चैतन्यता को सोख लेती हैं। सुरत तो जैसी है वैसी ही रहती है यानी उसकी ज़ात और जौहर में कोई फ़र्क नहीं आता, लेकिन उसकी ताक़त में फ़र्क आ जाता है। उतार होने से कमी और कमज़ोरी आती है। चढ़ाई से संचय और संग्रह होता है। मन और माया के ग़िलाफ़ जब झड़ जाते हैं तब चैतन्यता इकट्ठी होने और बढ़ने लगती है।

४१८—पहले जन्म में यदि दुःख तकलीफ़ और अपने ऊपर अन्याय हुए हों तो उसकी वजह से दूसरे जन्म में स्वभाव में दीनता पैदा होगी या निर्दयता, यह सब जीव के अधिकार और संस्कार पर निर्भर है। दुःख तकलीफ़ और अन्याय से पीड़ित होने से स्वभाव में नाराज़गी और बदला लेने का भाव अगर पैदा हो जावे तो दूसरे जन्म में ज़ोर और ज़ुल्म करता रहेगा। लेकिन अगर इसके विपरीत मन की शक्तियाँ और कार्रवाइयाँ थकित और क्षीण हो गई हों और कुछ परमार्थ की ओर रुख़ हो गया है तो दूसरे जन्म में दीनता और हम-दर्दी के साथ बरताव करता रहेगा।

४१९—सुरत ने जब सत्तदेश को छोड़ा था, तब उसके खाते और हिसाब में बहुत पूँजी जमा थी लेकिन

साथ ही साथ काल और माया के क़रज़े के रुक्के यानी आदि कर्म का क़रज़ा था जिसके चुकाने में यह पूँजी धीरे-धीरे कम होती जाती है और अन्त में सुरत साहूकार के बजाय क़रज़दार हो जाती है। ऐसे समय में संत सतगुरु यहाँ पधारते हैं और आगे करज़ा न बढ़े और जो कुछ क़रज़ा चढ़ा है, उसकी अदायगी की ज़िम्मेदारी वे अपने ऊपर ले लेते हैं। फलस्वरूप पूँजी बढ़ने लगती है। काल कर्म का बाक़ी क़रज़ा चुका कर लेने देने का हिसाब बे-बाक़ करके और सुरत को उनके पंजे से छुड़ा कर सत्तदेश में ले जाते है।

(८)

बनारस
२५ जनवरी सन् १९१३

आध्यात्मिक उन्नति और दीनता

बनारस की एक गंदी और घनी आबादी में बने हुए पार्क (खुले बाग़) के सिलसिले में बातचीत शुरू हुई।

४२०— धीरे २ इकट्ठे होकर अंत में पूर्ण परिवर्तन पैदा करने वाले कारणों के द्वारा समय आने पर किसी का स्वभाव या कोई वस्तु या स्थान एकाएक बिल्कुल बदल जाता है, जैसे कि यह ज़मीन का टुकड़ा या उथल-पुथल पैदा करने वाली कोई प्राकृतिक घटना। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सुरत की शक्ति धीरे-धीरे इकट्ठी होती और बढ़ती रहती है, यहाँ तक कि अन्त में एकाएक

स्वभाव में क्रांति पैदा कर देती है। जब तक काफ़ी ताक़त इकट्ठी होकर कोई तब्दीली या परिवर्तन न प्रकट हो, तब तक कुछ पता नहीं चलता है कि अन्तर में क्या हो रहा है। तब ऐकाएक वाह्य जगत में यानी बाहर दिखलाई देने वाली रचना में जैसे कोई इन्क़लाब और उलट फेर हो जाया करता है, उस तरह की कोई बात हो जाती है और तब अंतर में रूहानी या आध्यात्मिक ज्ञान और रोशनी फूट पड़ती है और बराबर उसका अनुभव होता रहता है। इस अवस्था के आने से पहले सिर्फ कभी कभी ही कुछ झांकी मिलती थी।

४२१—आध्यात्मिक विकास दीनता पैदा करने वाले अनुभवों के द्वारा होता है। इसके लिए यह ज़रूरी है कि भाग्य में उलट फेर हुआ करे जिससे ज़िल्लत और बे-इज़्ज़ती सहनी पड़े, गो ज़िल्लत और बे-इज़्ज़ती मक़सद और लक्ष्य नहीं है। असली चीज़ दीनता है जिसके लक्षण पहले के बचनों में बयान कर दिए गए हैं।

४२२—यह दुनिया परिवर्तन और रद्दोबदल की है। रद्दोबदल, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। क्रांति एक क्षण में ही होती है। वह क्षण 'वक़्त मुनासिब' या समय की पूर्णता को पहुँचना है। धीरे २ चाल चलती रहती है। शुरू में कुछ मालूम नहीं पड़ता है, लेकिन जब काफ़ी मिक़दार में ताक़त इकट्ठी हो जाती है और उसकी ख़बर भी पड़ने लगती है, तब इन्क़लाब या क्रांति होती है और बिल्कुल काया पलट हो जाता है। रेगिस्तान को

पार करके हरी भरी ज़मीन पर पहुँचने की यात्रा की भांति परमार्थी चाल चलती है कि जिसमें ऐक बार रेगिस्तान पार कर लिया तो फिर सामने हरा भरा आनंद मय दृश्य और सुहावनी धूप मिलेगी।

४२३—आध्यात्मिक क्षेत्र में महान परिवर्तन के लिए दीनता का आना बड़ा ज़रूरी है। मगर यह दीनता, ज़िल्लत और बे-इज़्ज़ती नहीं है। दीनता का मतलब तन और मन दोनों को नीचा डालना है। ज़िल्लत में अहंकार और आपे को ठेस लगती है। यह असर भौतिक और स्थूल होता है।

(९)

इलाहाबाद

२६-१-१९१३

आध्यात्मिक उन्नति के लिए संत सतगुरु की आवश्यकता

४२४—जिन लोगों के जीवन का ध्येय यानी मा-हसल ज़िन्दगी मनुष्यों और राष्ट्रों की राजनैतिक और सामाजिक दशा या स्तर को ऊँचा उठाने का है, उन लोगों के लिए राधास्वामी मत ग्रहण करना बहुत कठिन है। यदि उन्हें समझाया जाय कि राजनैतिक और सामाजिक कामों को छोड़े बिना उनसे आध्यात्मिक साधना नहीं बन सकती तो वे इस बात पर हँसेंगे और इसे मूर्खता कहेंगे।

४२५—राधास्वामी मत का अभ्यास बनने और उसमें स्पष्ट सफलता के लिए ज़रूरी है कि जिस घाट या मुक़ाम पर जीव की बैठक है और वहाँ होश हवास से काम कर रहा है, उस घाट या मुक़ाम से सुरत को ऊपर चढ़ाया जावे। यह बहुत मुश्किल काम है। जिस घाट पर स्थिति और होश हवास प्राप्त हैं, उस घाट पर ऐक तौर से यह जम गया है, वहाँ से उठना या हिलना नहीं चाहता। इस आलस के अंग को जब तक न निकाला जावेगा, कोई आध्यात्मिक उन्नति या रूहानी तरक़्क़ी मुमकिन नहीं है। इसका कारण पिछले जन्मों के संबंध और बंधन और हाल के जन्म के नक़्श या संस्कार हैं। इसलिए जब तक ऊँचे दरजे के किसी गतिवान पुरुष से संबंध न जोड़ा जावे, यह आलस और बे-हरकती का अंग नहीं टूट सकता। केवल संत सतगुरु के संग से ही यह हो सकता है कि पिंडी मन या नीचे के मन के घाट से उठ कर सूक्ष्म मन के घाट पर पहुँचे और वहाँ के होश हवास जगावे। यह रीति बहुत धीरे २ काम करती है और अभ्यासी का बहुत समय इस काम में लग जाता है। तब कहीं जाकर कुछ हासिल होता है।

(१०)

इलाहाबाद
२७ जनवरी सन् १९१३
शाम को हवाखोरी के वक़्त

पश्चिमी तालीम से हानियाँ

४२६—नौजवान आदमी को ऐसी लड़की से शादी करनी चाहिए जिसे अपने पति की सेवा करने में ख़ुशी हासिल हो, न कि पियानो बजा कर उसे मोहित करना चाहे और जब सेवा और ख़िदमत का सवाल पेश हो तो कहे कि पत्नी को भी पति के बराबर हक़ या अधिकार मिलने चाहिए। इस दृष्टि से पश्चिम देश की शिक्षा निन्दनीय है। सच कहा जाय तो लड़कियों को सिर्फ़ इतनी ही तालीम देना काफ़ी है कि धार्मिक पुस्तकें पढ़ सकें और चिट्ठी पत्री लिख सकें, इससे ज़्यादा नहीं। ऐसा ख़याल करना ग़लत है कि भारतवासी अपने घरों में स्त्रियों को ग़ुलामों या चल सम्पत्ति की तरह बरतते हैं। सामाजिक और राजनैतिक सुधारकों की यह आदत है कि पबलिक या सार्वजनिक सभाओं में अपने कार्य की बड़ी शेख़ी बघारा करते हैं, किन्तु इस क्षेत्र में वे सर्वथा असफल या ना-कामयाब रहे हैं, क्योंकि उनकी कोशिशों के कोई अमली या स्पष्ट नतीजे देखने में नहीं आते। इसका कारण भारतीय नारियों का चरित्र बल है। बिना औरतों के सहयोग के सामाजिक सुधार होना ना-मुमकिन है।

४२७—जिस ढंग की शिक्षा पश्चिमीय देशों में स्त्रियों को दी जाती है, वैसी शिक्षा अगर पूरब के देशों में भी स्त्रियों को दी जाने लगे तो निस्संदेह वह सर्वनाश का कारण होगी। यह कामुकता और विलासिता की शिक्षा होगी। पश्चिमी शिक्षा आस्तिकों की अपेक्षा नास्तिक अधिक पैदा करती है। एक अनपढ़ गँवार आदमी को

मज़हब और धर्म की बात समझाना ब-निस्बत उस आदमी के जिसने फियासफ़ी पढ़ी हो और उस पढ़ाई के गहरे नक़्श या संस्कार उसके दिल व दिमाग़ पर पड़े हों, ज्यादा आसान है। चाहे जितनी दलीलों और युक्तियों से उसे समझाया जावे, उसके वे नक़्श मिट नहीं सकते। धार्मिक विषयों पर डाक्टर वेल्डन के विचार प्रामाणिक माने जाते हैं। उनका कहना है कि जैसे २ समय बदलता जाता है और दुनिया की हालत और मनुष्यों के विचारों में अन्तर आता जाता है, वैसे २ ही इतिहास की गति विधि भी बदलती जाती है। लेकिन जब ईसाई धर्म की बात आती है तो उसके सिद्धान्तों को, चाहे वे क़रीने-क़यास और युक्ति संगत हों या नहीं, फ़ौरन मानने को तैयार हैं। संतों के पधारने के विषय में, जैसे गुरु नानक के विषय में वे फ़ौरन कह देंगे कि वे तो मामूली आदमी थे मगर हिन्दुओं को सहिष्णुता और नम्रता का पाठ पढ़ाने से जिससे वे मुसलमान शासकों के अत्याचार को धैर्य और दृढ़ता से सहन कर सकें, प्रसिद्ध हो गए।

(११)

इलाहाबाद
२७ जनवरी सन् १९१३
रात का सतसंग

पश्चिमी तालीम की उपयोगिता

४२८—पश्चिमी देश की शिक्षा से कुछ फ़ायदे भी हुए हैं। एक प्रकार से यह पूर्वीय देशों में प्रचलित बहुत सी अनावश्यक बातें जैसे अनेक प्रकार के अन्ध विश्वास

और मूर्ति पूजा की प्रथा को दूर करने में सहायक है। मालिक की यह मौज कि उसकी आध्यात्मिकता के पोषण स्थान भारतवर्ष पर पश्चिमी देश के लोगों का शासन हो, भारतियों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए उसकी विशेष दया है। यद्यपि भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र में पश्चिमी शिक्षा का असर विनाशक ही हुआ है, पर फिर भी व्यापक दृष्टि से कुल बातों को देखा जावे तो कोई विरोध नहीं मालूम होगा। आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह नितांत आवश्यक है। यह उस शृङ्खला की एक कड़ी है।

४२९—अनेक समाजें जो बन गई हैं, उनमें अगरचे तत्त्व या सार कुछ भी नहीं है, पर अपने २ तरीक़े पर वे भी मददगार हैं। मिसाल के तौर पर आर्य समाजी लोग जो कहते है कि हम वेद और वेदों के उसूलों को मानते हैं, मूर्ति पूजन के नाश करने में सहायक हैं।

४३०—नए ईसाई अपने गुरुओं और पादरियों से भी ज्यादा कट्टर और धर्मांध होते हैं। अगर उनके उपदेशक और गुरु हमारे मत को क़बूल कर लें तो वे लोग भी क़बूल कर लेंगे, वरना नहीं।

४३१—इन सभी के कार्य ध्वंसात्मक हैं। केवल राधास्वामी मत के कार्य निर्माणकारक हैं।

४३२—पश्चिमी देशों में रहने वालों का पूरब के देशों में रहने वालों से मेल मिलाप का नतीजा यह होगा कि यहाँ की सुरतें वहाँ जन्म लेंगी और इन सुरतों के द्वारा जो वहाँ जन्म लेंगी, राधास्वामी मत पश्चिम के मुल्कों में भी फैलेगा।

(१२)

इलाहाबाद
२८ जनवरी सन् १९१३
शाम को हवाखोरी के वक़्त.

वृत्तियों और क्रियाओं का रुख मोड़ना। निष्काम भाव से ख़ैरात करना अच्छा है। सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में जिंदगी लगा देना अच्छा नहीं है।

४३३—इस घाट पर हमारे मन की वृत्तियों और दैहिक क्रियाओं का रुख, इन्द्रियों और सांसरिक भोग विलासों की ओर है। ऊपर के घाट पर पहुँचने के लिए इनका रुख और मुख मोड़ना पड़ता है। शरीर में नाड़ियों के प्रत्येक केन्द्र पर यानी प्रत्येक चक्र पर एक एक ताल या पर्दा है जो इस वक़्त उन्नतोदर यानी गुम्बदनुमा उभरा हुआ है। इन ताल या परदों को रेत कर उनको नतोदर करने यानी मेहराबनुमा या प्याले की सी शक्ल में लाने की जरूरत हैं। इस वक़्त यह क़ैफियत है कि उन्नतोदर ताल पर किरन पड़ने से रोशनी बाहर फैलती है। जब वह ताल नतोदर यानी प्याले की शक्ल में आ जावे तो रोशनी अंदर को फैलेगी। इसलिये पहले यह करना है कि ताल या पर्दों को उन्नतोदर से नतोदर बनाया जावे और तब ऊपर के रूहानी देशों की रोशनी लेने अथवा ग्रहण करने के लिए उनका फ़ोकस बदलना पड़ेगा यानी

ऊपर के देशों की सीध में, मध्य में, उनको लाना होगा। जब तक यह हालत या दरजा न पहुँचे, तब तक कुल तालीम और लिखाई पढ़ाई और शिक्षा का असर बाहर-मुख होगा जिससे मन और देह और इन्द्रियाँ और उनकी कार्रवाइयाँ पुष्ट होंगी। और अगर ताल या परदा ठीक करके ऊपर से आने वाली धार के मध्य में और सीध में आ गया है तो इनका असर ऐसा होगा कि परमार्थ और आध्यात्मिक उन्नति और तरक़्क़ी में मदद मिले।

४३४—निष्काम भाव से अगर कोई आदमी ख़ैरात करे या मुसीबत-ज़दों के साथ हम-दर्दी करे या उनको मदद पहुँचावे तो वह अच्छा है, सराहनीय कार्य है। इन कामों के करने वाले को मालिक की मेहर और दया प्राप्त होगी। मगर उन लोगों का हाल जुदा है जो सामाजिक सुधार या क़ौमों या राष्ट्रों या कुल दुनिया के राजनैतिक पुनरुद्धार के लिए अपनी जिंदगी लगा देते हैं। उनके नज़दीक सब से बढ़कर चीज़ यह दुनिया और इसके सुख और आराम हैं। वे समझते हैं कि जो कुछ है, वह यही दुनिया है। इसके बाद या परे कुछ नहीं है। वे लोग इस दुनिया और इसके सुखों को ना-पायदार या नाशवान नहीं खयाल करते। मनुष्यों का जीवन रूपी वस्त्र जहाँ कहीं से फट जावे या उसमें सूराख़ हो जावे, उसे जोड़ जाड़ कर ठीक करने के उपाय ढूँढने में इस क़िस्म के लोग अपनी कुल कार्रवाई और शक्ति ख़र्च करते हैं, मगर उनकी कोशिशों का नतीजा यह होता है कि एक ओर से पूरी

तरह से जोड़ जाड़ कर ठीक न कर पाए थे कि दूसरी ओर ज्यादा फट जाता है या बड़ा सूराख़ हो जाता है, जैसे कोई भूचाल आ गया जिसने सारी ज़मीन को हिला दिया। दुनिया के लोग उनकी इन ज़ाहिरा क़ुरबानी के कामों की बड़ाई करें, यह उनकी इच्छा है और यही उनका आदर्श और महत्त्वाकांक्षा है। ऐसे लोग, सच्ची रूहानी ज़िंदगी के लायक बिल्कुल नहीं हैं। हाँ, इतनी बात माननी पड़ेगी कि वे लोग विद्या बुद्धि में बड़े हैं और अपने हलके में बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। विद्या बुद्धि के क्षेत्र में वे लोग अत्यन्त विशाल और महान हैं और हम लोग उनके सामने आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत छोटे हैं। मगर हम लोगों में भी आध्यात्मिकता और रूहानियत में बहुत बढ़े चढ़े पुरुष हैं जो अपने को इन लोगों की नज़र से छिपा कर रखते हैं। इनकी तवज्जह तथा स्तुति और तारीफ़ पर वे ख़ाक डालते हैं। खेत में चरने वाला कोई चौपाया या जानवर किसी की तरफ़ तारीफ़ और बड़ाई की नज़र से देखे तो वह शख़्स कैसा महसूस करेगा ? ज्यादा से ज्यादा जो वह कर सकता है, वह यह है कि उस जानवर पर थोड़ा हाथ फेरे और पुचकारे।

४३५—दुनियावी सुख और सामान की वृद्धि के बाद ज़रूर दुःख और दरिद्रता आवेगी। जहाँ पैसा और बे-फ़िक्री और ख़ुशहाली है, वहाँ पापों, गुनाहों और ऐयाशी का अड्डा है।

पाठ सहायक

दिग्दर्शन=वह जो कुछ उदाहरण-स्वरूप दिखलाया जाय। नमूना। जानकारी।

सतत=सदा। हमेशा।

विशिष्ठ=खास।

लाजिम=आवश्यक।

विवश=मजबूर।

सन्निहित=पास रक्खा हुआ। ठहराया हुआ।

आलिंगन=गले से लगाना।

अभिव्यक्ति=प्रकाशन।

अपरंच=और भी। फिर भी। पुनः।

सुप्त=सोया हुआ। बंद। मुदा हुआ।

परिवेष्टित=घेरे हुए।

मौलिक=मूल संबंधी।

नियंत्रण=नियम आदि में बाँधना या उसके अनुसार चलाना।

अहसास=मालूम करना। अनुभव करना। ज्ञान करना।

अपेक्षाकृत=ब-मुकाबले।

आँस भरना=समान रूप से साथ देना।

प्रतिस्पर्द्धा=बराबरी या मुकाबला करना।

प्रतियोगिता=चढ़ा ऊपरी। शत्रुता।

युगपत=साथ साथ।

युति=मिलाप। योग।

सहानुभूति=हम-दर्दी।

समन्वय=मिलाप। मेल।

वस्तुतः=सचमुच।

कायम-मुकाम=किसी की ओर से या किसी के स्थान पर काम करने वाला।

क्लांत=थकी हुई।

उन्मूलन=जड़ से उखाड़ना। समूल नष्ट करना।

ज़खीरा=कोष। खजाना। संग्रह।

उरूज=ऊपर की ओर चढ़ना।

नैतिक=नीति संबंधी।

इकबालमंदी=धन। दौलत।

समृद्धि=अमीरी।

मख़सूस=खास। विशिष्ट।

लक्ष्य=निशाना।

सामंजस्य=मेल। मिलान।

निष्कर्ष=नतीजा।

आपाततः=अकस्मात। अचानक।

संवेदना=अनुभव करना।

मा-हसल=प्राप्ति। लाभ। परिणाम।

बद्ध=बँधा हुआ।